वे और हम

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, एम० ए०

श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मन्दिर

पटना—६

मिलने का पता :

अशोक प्रेस, पटना—६

मूल्य :

चार रुपए

मुद्रक :

श्री सुरेश कुमार

अशोक प्रेस, पटना—६

श्रद्धेय

श्री विष्णुदेव नारायण जी

को

जो अपनी नीति के ही रहे निरन्तर—चाहे राजनीति कुछ हो,
परिस्थिति कुछ। किसी ख़ुशामदी जी-हुजूरी पर न
ढले, न किसी सत्ता की त्योरी पर हिले और न
चाँदी की चिकनाहट पर फिसले ही।
बस, अपना ईमान पहले
रहा, धन-मान पीछे।

दो शब्द
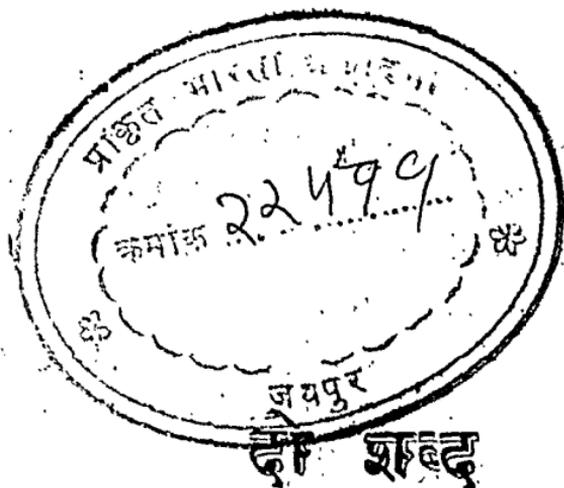
लीजिए, 'यह क़िस्सा है तब का जब आतिश जवाँ था।' और, तब से अब तक जाने कितना गंगा का पानी पुल के तले से जा चुका। वह दिन गए जब गोराशाही की कमान चढ़ी हुई थी हमारे यहाँ। सूरज को भी हुक्म न था डूबने को उस फिरंगी राज में।

आज वह ढाई पहर की बादशाहत ख़त्म हो गई—'आए भी वो, गए भी वो, वो ख़त्म फ़साना हो गया।'

मगर हाँ, उस फ़साने के अन्दर कुछ ऐसी भी चीज़ें हैं जिन्हें जान लें, पहचान लें तो हम कुछ पाएँगे ही—कुछ खोएँगे नहीं। वही चीजें हम नजर कर रहे हैं आज।

उन दिनों कुछ ऐसे भी गोरे साहब थे जिनसे हमारी गहरी छनती रही।

बरसों साथ रहे—साथ-साथ उठे-बैठे, खाये-पिये, हँसे-बोले भी। पर इस आसपास के चलते हम उनके रंग में जो आए हों—जितना, पर हमारे रंग में तो आने से रहे वह।

माना कि उनके सीने में भी दर्द है, मरौवत है—सब-कुछ है। पर वह दिल नहीं कि किसी भावुकता के झकोर से हिल जाय, अपनी अक़्ल

के संवल का पल्ला छोड़ किसी ग़ैर के हाव-भाव पर लुट जाय। बस, चाहे जिस हवा-पानी में रहें—कोई बात नहीं। उसके होकर तो रहने से रहे वह। अपनी हर चीज, हर नियम की पाबन्दी तो उनकी घुट्टी में पड़ी है जैसे—क्या आचार-विचार, क्या परिवार-संसार। अब हिमालय की हवा तो उन्हें लगने से रही। गंगा का पानी तो रमने से रहा।

बस, दो-चार ही—सदियों के मेल-जोल के बावजूद, जिन्हें हम उँगलियों की पोर पर गिन लें—बागियों में शुमार, हमारे हवा-पानी में खिंच आए, यही ग़नीमत है। आखिर हर बाद के एकाध अपवाद हैं, हर नियम के व्यतिक्रम।

और लीजिए, एक हम हैं कि अपनी पौर पर भी विलायती हवा-पानी की बन्दगी, विलायती रंग-ढंग की बानगी अपनाते रहे बराबर। विलायती खान-पान, विलायती चाल-ढाल या विलायती रंग-रूप की आरती तो हमारी इन्द्रियाँ कभी की मान गईं। बस, एक कान विलायती गान की तान-तेवर से खिंचे-के-खिंचे रह गए निरन्तर।

कम बोलते हैं। दो टूक—लच्छेदार नहीं। गप्पें लड़ाने की न फ़ुरसत है न तबीयत। रोजमर्रे के व्यवहार में सफ़ाई है, सचाई भी अपने ढंग की। हाँ, किसी ग़ैर की मेज पर तो अपने सारे पत्ते रखने से रहे वह।

जाहिर है, नीति के धनी हैं वह—बात के धनी, ईमान के धनी भी। मगर ठहरिए, उनकी नीति की लट तो राजनीति के तले दबी है जैसे। कहीं अपने राष्ट्र की माँग आई तो फिर क्या ईमान, क्या धन-मान—सब कुछ कुर्बान है उस पर। अपने राजा और राज्य की वन्दना तो ईसा की वन्दना से भी बीस ठहरी, उन्नीस नहीं।

वैसे तो जो हम हैं वही वह हैं—वही सुख-दुख, वही आस-प्यास और वही राग-विराग भी। फिर भी ये सारे ताने-बाने क्या हमारे साँचे में ढले,

हमारे रंग में रँगे हैं ? जी नहीं। उनके निखार के—उनके उतार-चढ़ाव के क़रीने कुछ हैं, हमारे कुछ। नाते-रिश्ते के कुलावे ही लीजिए। ऐसे ढीले हैं कि क्या कहे कोई।

वही बात, उनकी नस-नस में जिन्दगी है,जिन्दादिली भी। हाँ, खुरदरी भी है वह जिन्दगी—रेशमी नहीं, आरामपसन्दी नहीं। किसी तरह की गन्दगी, वीरानी या बेकारी तो उनकी देहरी पर झाँक तक नहीं पाती। हमारे यहाँ तो जैसी बेबसी है, उठती जवानियों की सुबह ही शाम हो जाती है अक्सर। कहाँ उनका प्रभात तो वह आते-आते, वह रफ्ते-रफ्ते आता है रात की पौर पर कि आँखें फाड़ देखा करे कोई। जभी तो उनके साथ त्याग और विराग नाम की कोई चीज नहीं, कोई मूल्य नहीं। पर राग की वह आग भी नहीं कि लगाए न लगे, बुझाए न बुझे। हमारी तरह अटूट अनुराग की, ममत्व की कैद की वह जंजीर नहीं कि खुलते-खुलते भी खुल नहीं पाती। बस, अपनी खुशी, अपनी की ही पड़ी है हर के साथ। परिवार कोई भार नहीं। रहे, रहे, न रहे, न रहे। बस, अपनी नाव की पतवार अपने हाथ है।

विलायती नारी तो कहीं स्वतंत्र है, कहीं जिम्मेवार। ज़माना हुआ, वह भवन से निकलकर भुवन में आ गई। क्या चिलमन और आँचल, क्या अपनी माँग और गोद की खातिर किसी सुख-भोग की तिलांजलि तो उस हवा-पानी की फसल नहीं।

लीजिए, जैसी छूट है उनकी, हमारे यहाँ तो वैसी अभी चलने से रही। क्या कहने खिलती-खुलती कलियों के निखार के। पसीने की सिंचाई लिए उठती जवानी की वह फसल की हरियाली तो विलायती हवा-पानी की एक निराली अँगड़ाई ही ठहरी। और, वह जवानी भी क्या जो दीवानी न रही, रूमानी न रही।

लीजिए, खुले अंगों की गुलकारियाँ हैं, सरे-आम चुम्बन और आलिंगन की रंगरेलियाँ भी। पर दुनिया की नज़र पर वह छलकती हुई अंगूरी की मस्ती किसी मानी में बेहयाई या शोखी में शुमार नहीं। यह उनकी अपनी चीज़ है, अपनी तमीज़। हमारी नज़र चाहे जो दिखाए—जैसा, उन्हें क्या? हमारे आइने में तो अपना चेहरा देखने से रहे वह।

उनके यहाँ सती-माहात्म्य कोई तथ्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं। जो कुछ है, वह कर्त्तव्य है। सयानी हुई नहीं कि माँ-बाप की निगरानी छूट गई। अब अपनी मर्ज़ी है, अपनी जिम्मेवारी भी। अपने हाथों शादी है, अपने हाथों जिन्दगी।

हाँ, हमारी परम्परा की पौर पर तो किसी के होने में ही, किसी को तन-मन देने में ही नारी-जीवन की निराली निधि रह आई, उसकी सद्गति भी। वह अटूट प्यार तो उसकी जिन्दगी की पतवार है। कहाँ पच्छिम के हवा-पानी में अपनी ही खुशहाली बड़ी चीज़ है—अपनी मौज, अपना उभार-निखार।

अब कौन बीस है, कौन उन्नीस—कोई कैसे कहे, कहिए। आखिर अपनी-अपनी दृष्टि होती है, अपनी-अपनी कसौटी भी। हम तो हाथ जोड़ कहेंगे ही—

'तेरा हुस्न बेशक बड़ी चीज़ है
मेरा इश्क भी तो कोई चीज़ है!
भली चीज़ है या बुरी चीज़ है
मुहब्बत भी आख़िर कोई चीज़ है!'

मगर लीजिए, वह अपनी 'कोई चीज़' भी तो घुट कर नाचीज़ होने पर आई है—ज़माने के इस नए दौर में। अब तो पच्छिम की हवा यहाँ तक आ गई, आ रही है, आती रहेगी बराबर। वह देश-काल की दूरियाँ

तो अब रहीं नहीं। और, लीजिए, उस मस्तानी हवा का रुख देख हमारी पौर की नई पीढ़ी भी बदलती जा रही है अपनी नाव पर पाल।

कैसे न बदले, कहिए? परिवर्त्तन ही तो इस जीवन का सनातन क्रम है। आज दुनिया ही कहाँ से कहाँ उड़ी जा रही है। वही अकेली अपनी सनातन की पौर पर खड़ी-की-खड़ी रह गई···तो? वह तो आँख खोल देखती है कि वह सद्गति की लीक तो गुलामी की प्रतीक है आज, अपनी सारी संभावनाओं की आहुति भी। लीजिए, कहाँ एक दिन त्याग और सेवा ही बड़ी चीज़ थीं, कहाँ आज हर क्षेत्र में प्रतियोगिता चल पड़ी। बस, वह सहधर्मिणी जा रही है, सहकर्मिणी आ रही है।

नया दृष्टिकोण––नया मूल्यांकन!

'नज़रें बदल गईं तो नज़ारे बदल गए!
जब सुबह हो गई तो सितारे बदल गए!'

तो लीजिए, वह एकांगिता गई—आ गई नई दिशा, नई उद्दीपना। खुल रही हैं प्रतिभा की···संभावना की पंखुड़ियाँ हर क्षेत्र में आज। अब क्या-क्या न गुल खिले––क्या कहे कोई!

तो वह पुनीत प्रेम-पर्व समाप्त होने पर आया है? क्या सच? मुहब्बत की मजार पर मर्शिया गाने के दिन आ गए—ऐसा?

नहीं-नहीं, ऐसा भी क्या! हम तो आँख मूँद पच्छिम का नाज़ उठाने से रहे। अपने गाँधी की विरासत तोहम लुटने न देंगे। हमारी प्रगति तो अपनी संस्कृति के साये में ही होगी एक ढंग से। स्थूल और सूक्ष्म दोनों का मेलजोल एक साथ। हमें तो आशा ही नहीं, विश्वास भी है कि अपनी भौतिक प्रगति का मारा पच्छिम भी आकर रहेगा एक दिन पूरब की पौर पर माथा टेकने।

तो पच्छिम की नज़र और है, पूरब की नज़र और—बस, अपनी-अपनी नज़र। और इन नज़रों के नज़ारे आप भर नज़र देख पाएँ—यही अपनी लेखनी की तमन्ना है, प्रार्थना भी।

पटना, —राधिकारमण प्रसाद सिंह

१५ मार्च, '५६

विषय-सूची

१.	अपनी-अपनी नज़र	...	१
२.	माँ-बेटी	...	११
३.	अपना-अपना तौर	...	२३
४.	अपनी-अपनी व्यवस्था	...	३९
५.	जाति और रंग	...	५५
६.	अपनी-अपनी छूट	...	७१
७.	अपनी-अपनी देन	...	९५
८.	अपनी-अपनी गाँठ	...	११७
९.	रस का प्यास	...	१३७
१०.	अपनी-अपनी कसौटी	...	१५३
११.	ताने-बाने	...	१७३
१२.	अपनी-अपनी राह	...	२०७
१३.	श्रम का मूल्य	...	२४७

अपनी-अपनी नज़र

नई-नई जबान की लौ से खेलने की लगन अपनी बराबर रह आई है। बँगला और अंग्रेजी की धुन तो खैर, बचपन ही से दून पर रही, मगर कॉलेज में आकर कटर-मटर कुछ फ्रेंच भी जान लेने का शौक़ चर्राया।

हमारे अंग्रेजी के प्रोफेसर अंग्रेज हो कर भी फ्रेंच के आशना थे बेजोड़ वैसे तो जर्मन और इटालियन तक भी पहुँच थी उनकी, मगर दिल की दरीचियों तक शायद फ्रेंच जबान ही उतर पाई, अंग्रेजी भी वैसी नहीं। अंग्रेजी की जमीन उर्वर चाहे जो हो, मगर रस का कौसर तो फ्रेंच ही में भरपूर है बराबर।

मगर, कॉलेज में तो फ्रेंच के लिए कोई जगह न थी और कोर्स की किताबों के साथ-साथ फ्रेंच भी लिए चलने की वैसी गुंजाइश भी नहीं। बस, जिसे ऐसी लगन होती वह कॉलेज के घंटों के बाद उनसे मिल कर कुछ पूछ लेता, मगर हाँ, उन्हें खाली पाये तब न! जब देखो तब कुछ लिये बैठे—सिर चीर रहे हैं। दस कोई घेरे हुए हैं इर्द-गिर्द—जो दो-चार हमारी तरह फ्रेंच जानने के लिये मँड़रा रहे हैं उनकी पौर पर, वे रह जाते हैं बस हाथ मल कर।

आखिर एक दिन क्लास में वे पूछ ही बैठे कि हम में कितने ऐसे हैं, जिन्हें फ्रेञ्च जानने की धुन है। कुल दस उठ खड़े हुए। उनमें सात तो हम थे, हमारे हमजोली, तीन हमारे क्लास की लड़कियाँ थीं—एक अंग्रेज, दो ऐंग्लो-इण्डियन।

आपने कहा कि खैर, यह कोर्स से बाहर है तो क्या, फ्रेञ्च जान लेना बड़ी चीज है, खास कर जिसको सरस साहित्य की रुझान हो या यूरोप के सैर-सपाटे का शौक़।

और बस, यह ठहरी कि यह टोली हफ्ते में तीन दिन एक अलग कमरे में किसी नियत समय पर मिला करे। कुल दस तो हैं ही—एक साथ मिल-जुल फ्रेञ्च पढ़ें, आपस की लेन-देन भी चलती रहे। हाँ, इस ग्रूप में जो सबसे अधिक फ्रेञ्च की जानकार निकली मिस मुरियल, उसी के हाथ देख-रेख की बागडोर आई।

वैसे तो वह हमारी मुश्किलें हल कर देने के लिये काफ़ी थी, फिर भी कोई वैसी जरुरत आ पड़ी, तो हमारे प्रोफेसर साहब किसी दिन आकर देख लेंगे और किसने क्या तरक्की की, इसे भी जाँचते रहेंगे।

मिस मुरियल ने एक रुटीन तैयार कर ली और उसी के अनुसार फ्रेंच की पढ़ाई का दौर शुरु हुआ!

जब पहले दिन हमलोग मिले—कोई चार बजे के वक्त—तब हमारे प्रोफेसर साहब दस मिनट के लिए आकर कैसे क्या लिखना-पढ़ना है, सब-कुछ समझा गये और मिस मुरियल के हाथ में, नाव आगे खेते रहने की पतवार दे गये। साथ-साथ हम सात छात्रों को आँख खोल एक तौर और सलीक़े से बरतने की ताक़ीद भी कर गये।

पढ़ाई का सिलसिला चला। एकाध दिन तो एक लिहाज, एक कैसे-

क्या की धुकधुकी-सी बनी रही। हम न आँखें उठा पाते रहे, न जबान ही वैसी खुल पाती। मगर, मिस मुरियल की ओर से कुछ ऐसी जिन्दादिली की लहर आई कि बादल छँट गये और आँख और जबान के खुल खेलने की गुंजाइश बन आई।

लीजिये, हमलोग उसी कमरे में मिलते—कुछ पढ़ते, कुछ लिखते, कुछ बातें होतीं—कुछ चुटकुले भी; और वह पौन घंटा पौन मिनट में उड़ जाता।

मिस मुरियल अपने ढंग की निराली, आप 'अपनी मिसाल थी। पढ़ने-लिखने में, खैर, वह तेज-तर्रार थी ही, देखने-सुनने में भी अपनी एक जगह रखती थी। वह रूम-झूम आँखें, वह गुल-फुल चेहरा; होठों पर मुस्कान का वह फव्वारा कि जब वह अपनी रौ में आती तो फिर उसकी आँखों की हम पहले सुनते, उसकी जबान की पीछे।

उसकी दोनों ऐंग्लो-इण्डियन सहेलियाँ भी साथ देती रहीं बराबर; मगर वैसी सहज स्फूर्ति की ताजगी तो उनकी घुट्टी में पड़ी न थी। फिर भी वैसी बीस नहीं, तो उन्नीस तो जरूर थीं।

किसी हिन्दुस्तानी की निगाह में ऐसी बे-तकल्लुफी और फुर्ती की बानगी बेपर्दगी में दाखिल या अवैध चाहे जो हो, मगर जिस खुली हवा में वह विलायती मिस पल आई थी, उसमें तो कहीं किसी को उँगली उठाने की जगह न थी।

कोई एक महीना गुजर गया। किताबों की पढ़ाई तो खैर, कोई वैसी न हुई, मगर आपस के मेल-जोल और दिल-बहलाव का दौर अच्छा रहा; साथ-साथ फ्रेंच बोल-चाल का सिलसिला भी चल निकला।

एकाध दिन ताश की मजलिस भी रही--एक फ्रेंच ड्रामा का रिहर्सल

भी, और किताबों से कहीं पुर-असर बातों में ही फ्रेंच की जानकारी निकली।

उस दिन प्रोफेसर साहब ने भरे क्लास में जब छेड़ कर पूछा कि फ्रेंच-क्लास कैसा चल रहा है, तब मिस मुरियल ने बड़े तपाक से फ़रमाया कि प्रगति अच्छी ही है--जैसी चाहिये।

"और लड़कों के तौर-तमीज़ ?"

"जी, कोई बात नहीं।"

[२]

मिस मुरियल की ज़बान से शिष्टता की सनद पाकर हमारी बाँछें खिल उठीं। एक खास असर यह हुआ कि एक बंगालिन छात्रा भी फ्रेंच-क्लास में शामिल हो गई। वह शुरू से ही आना चाहती रही, मगर उसके गार्जियन को शायद यह स्वीकार न था कि प्रोफेसर की अनुपस्थिति में पाँच-सात लड़कों के साथ वह अलग कमरे में बैठे। उन दिनों लड़कियों को कॉलेज में पढ़ाना ही किसी को वैसा पसन्द न था। उँगलियाँ उठतीं, लोग खुल्लमखुल्ला फब्तियाँ कसते। सदाचार की कील जो ढीली होती है—आखिर क्या कहेगी दुनिया, क्या कहेंगे बड़े-बूढ़े! जो दस-पाँच नई रोशनी, नई हवा के असर में पड़ मैदान में उतर आये उनका शुमार तो बाग़ियों में रहा बराबर।

जो पाँच-सात हिन्दुस्तानी लड़कियाँ हमारे कॉलेज में आती रहीं वे प्रोफेसर के साथ-साथ क्लास में आतीं और घंटा खतम होते ही उनके साथ-साथ उठकर चली जातीं। हाँ, जो अंग्रेज़ या ऐंग्लो-इण्डियन थीं, वे अपने पैरों पर खड़ी रहतीं—साथ-साथ आईं या नहीं, खुशी उनकी।

तो मिस बोस क्लास में आई तो जरूर, मगर वहाँ के हवा-पानी में वैसी घुल-मिल न सकी। जैसी स्फूर्ति, जैसी जिन्दा दिली हमारे यहाँ आम हो चुकी

थी, वह बे-तकल्लुफी, वह हँसी-खुशी की हिलोरें तो उसके लिए लहू के घूँट बन गईं जैसे। वह बिचारी गुमसुम बैठी रह जाती; न आँखें मिला पाती न जबान। जाने क्या ऐसी मुश्किल थी कि हवा का रुख देखकर भी वह अपनी नाव का पाल बदल न सकी।

बड़ी आई शर्म वाली—क्लास छोड़ बैठी वह। उस हाव-भाव के मुक्त वायुमण्डल में वह खंप न सकी। विलायती छोकरियों के साथ क़दम से क़दम मिलाकर खुल खेलना उससे हो न पाया। क्या जाने दिल की मचलें दिल ही में करवट बदल कर रह गईं!

एकाध दिन तो उसी को लेकर अच्छा मजाक रहा क्लास में। यारों ने जी खोल खिल्ली भी उड़ाई। मिस मुरियल भी कह गईं कि वह तो बड़ी वो है, ऐसी खुली हवा में आते-आते आयेगी—अभी पैर रोप नहीं पाती बिचारी।

"सो क्यों?" मैंने हँस कर पूछा।

"अपने ऊपर भरोसा जो नहीं। पल आई है रूढ़ियों की अंधी गली में बराबर। यह हिली-मिली ज़िन्दादिली की ज़िन्दगी तो पूरब को पश्चिम से लेनी ही है जल्द से जल्द।"

तभी एक दिन हमारे एक सहपाठी किरनशंकर से पता चला कि शायद किसी ने जाकर प्रिंसपल के कान भर दिये हैं कि यह फ्रेंच का अध्ययन और अध्यापन तो हाथी के दाँत दिखलाने को हैं बस। वहाँ तो एक आवारगी का दौर दून पर है और यह सिलसिला चलता रहा तो कब क्या हो जाय, कौन कहे! किसी को लिहाज़ है न शर्म। जो है वह मिसों की नजरों में जाने क्या पा लेता है कि अपने-आप में रह नहीं पाता, बस चहकता रहता है गुल-फुल। वह क्लास तो कलकत्ते का 'सटर्डे क्लब' (Saturday club) है जैसे, जहाँ जवानों की बन आती है सनीचर की शाम। बस एक 'फॉक्सट्राट'

(Foxtrot) के डान्स को छोड़ क्या नहीं है वहाँ ! यह रवैया देख कॉलिज के कितने लड़कों के मुँह में पानी भर आया है, मगर फ्रेंच की जानकारी न होने की वजह हाथ मल कर रह जाते हैं, क्लास में दाखिल होने की गुंजायश नहीं। मिस मुरियल ने बड़ी शराफ़त बरती कि क्लास में प्रोफेसर साहब के पूछने पर भी छात्रों की बदतमीजी को पी गई। कहीं कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देतीं, तो हमारी वह किरकिरी होती कि बस! मगर, यही दौर रहा तो आखिर कब तक वह ज़बान मुँह में रख पायेगी ?

हमारे तो पाँव-तले से धरती सरकने पर आई। आखिर मिस मुरियल अपनी रास ऐसी ढीली नहीं रखती तो हमें क्या कुत्ते ने काट खाया था कि हम वैसे रंग में आते ? उसी की नज़र और ज़बान की शह पाकर तो यारों की टोली लगी पर मारने। राम कहिये, हमारे कुछ पर नहीं निकले हैं !

हमने सुरेश से जाकर कहा तो वह एकबारगी डर गया। बोला, "मिस मुरियल तो विलायती ठहरी, उसमें यह बड़प्पन का शील चाहे जो हो, मगर ये खिचड़ी जो हैं—ऐंग्लो इण्डियन, उनका रुख पाना आसान नहीं। उधर आँखों से नशे के पैमाने भी छलकाएँगी, इधर कहीं कोई जाँच आई तो क्या जाने तोते की तरह आँख पलट चट इलजाम हमारे सर मढ़ दें। काटें और उलट जायँ—यह तो शायद उनके खमीर में है।"

"ऐसा ? नहीं-नहीं, यह तुम्हारे मन का चोर बोल रहा है, तुम नहीं।"

दूसरे दिन किरनशंकर से पता चला कि प्रिंसिपल ने शायद इतिहास के प्रोफेसर को हमलोगों की गतिविधि पर एक आँख रखने की ताकीद की है। कोई भी लड़का भद्रता की बँधी-सधी लीक से जौ-भर भी बहका नज़र आया कि बस लीजिये, कॉलेज से नाम खारिज।

फिर क्या था—चौकन्ने हो रहे हमः किसी फेर में अब आने को नहीं।

बस आँखें झुकाए जो कुछ पूछना या पढ़ना रहा, पूछ-पढ़ लिया। किसी मेल-जोल या हँसी-खेल को सौ गज दूर ही से नमस्कार।

इधर एक हफ्ते से क्लास बन्द था। मिस मुरियल तो दस दिन की छुट्टी लेकर दार्जिलिंग जा चुकी थी।

कोई दस दिन बाद लौट आई तो हसब-मामूल क्लास खोल बैठी, मगर यहाँ तो कुछ और ही गुल खिल चुका था। वह क्लास अब बाज़ाब्ता क्लास हो रहा, क्लब नहीं। हम सर झुकाये बैठे रहें—आँखों में जान नहीं, जबान नहीं; होठों पर उछाह नहीं, मुस्कान नहीं—बस सरापा शील और लिहाज के प्रतीक। उधर से वह तान-तेवर के तीर छूट कर आते हैं तो क्या, रह जाते हैं वे पलकों पर ही छलन कर। हमारी आँखें हैं कि उन्हें पूछतीं तक नहीं; किसी हीले स्वागत करना तो दूर।

लुट गया वह चमन, उतर गया वह सर का सौदा। जो कल तक सुख-स्वाच्छन्द्य का स्रोत था, वह रह गया बालू की रेत जैसे।

तो लीजिये, वह तो वही रही जो बराबर रह आई, मगर हम हैं कि अभी कुछ हैं, अभी कुछ। तो ऐसा मुँहजोर है यह डर का भूत—हो तो क्या? हमारे चेहरे पर तो ज़िन्दगी वापस आने से रही।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन, वही नज़रबन्दी, वही धुक धुकी। जो घंटा पलकों में कट जाता—पता तक नहीं, वह लगा जैसे काट खाने। कहाँ कब आया, चल गया; कहाँ पहाड़ हो गया अब! पढ़ाई तो बँधी लीक पर पाँव घसीटती चलती रही, पर उसमें जान भी हो—ध्यान तो दूर!

उस दिन क्लास में गये तो देखा, हमीं-हम हैं सात, वह नहीं, उसकी दोनों ऐंग्लो-इण्डियन हमजोली भी नहीं। अच्छा, यह कौन है पौर पर खड़ी? अरे, यह तो वही मिस बोस है जो उस आज़ादी और बेतकल्लुफ़ी

के हवा-पानी में पैर रोप न पाई, कुढ़ कर क्लास छोड़ बैठी। लो, अब अनुकूल वायुमण्डल पाकर चाह रही है शामिल होना। मगर, अन्दर क़दम रख नहीं पाती है—कोई सहपाठिनी तो कमरे में रही नहीं; खड़े-खड़े लौट गई वह।

तभी सामने का दरवाज़ा खोल हमारे प्रोफेसर साहब एकाएक कमरे में घुस आये, और आते ही एक तैश में उबल पड़े, "अब यह फ्रेञ्च-क्लास न होगा। मिस मुरियल क्लास लेने को तैयार नहीं।"

एक सकते का आलम! काटो तो ख़ून नहीं। यह बे-मेघ की बिजली कैसी?

"अफ़सोस! गाड़ी तो अपनी पटरी से उतर गई! एकाध महीने चल सकी, यही गनीमत है। अभी इस मुल्क में किसी ऐसे मेल-जोल का सिलसिला निभना आसान नहीं।"

"क्या आख़िर ऐसी भूल हुई?" हमारा एक साथी टोक बैठा।

"अपने से क्यों नहीं पूछते—क्या हुई? हो तुम आज जैसे पहले रह आए? है वह तमीज़, वह तौर···शुरू हो गईं मनमानियाँ न?"

दूसरे दिन, किरनशंकर से आँखें चार होते ही, हम उबल पड़े कि आग लगाई तुमने, तो अब बुझाओ भी लगे हाथों। मगर, वह एक ही छलिया, किसी की पकड़ में आना तो दूर, उलटे हमीं पर बरस पड़ा कि हमने तुम्हें घूरने—गुलछर्रे उड़ाने—को मना किया था कि देखने या हँसने-बोलने को भी? वैसी ऊमस में भला वह जान देती?

माँ-बेटी

चाह रहे हैं जाना, उस महफिल की चहल-पहल में शामिल होना, मगर जब अपने को देखते हैं, अपनी श्रीमती जी की पेशानी पर उभरी हुई रेखाओं को देखते हैं तो कुछ न पूछिये—उठ-उठकर बैठ जाता है यह जी।

हम जैसों का कुछ दिन पहले किसी विलायती शीशमहल की रंगीनियों तक कभी गुजर न था—गोरों का अपना क्लब, अपना होटल, और फिर अपनी महफिल थी। और, जब भारत की बागडोर ही उनके हाथ थी तो वे रास ढीली रखने के कायल न थे। एकाध प्रिन्स या कोई नामी-गरामी बैरिस्टर मोर का पंख बाँध मोरों की पाँत में भले ही जा पड़े, मगर इस रंग में हिलमिल कर भरपूर आये, ऐसी तकदीर का तिलस्म तो शायद क्रिकेट के कर्णधार 'राँजी' के ही हिस्से आया—किसी और के नहीं।

मगर तब से अब तक कितना गंगा का पानी पुल के तले से जा चुका। अब भारतीयों की आँखें खुल चुकीं, उनकी नस-नस में स्वाभिमान की नई करवट, नई तड़प आई और गाँधी की आँधी के आते ही तो रंग-भेद का वह किला ताश के घर की तरह ढह गया जैसे। जभी तो वह तनाव—वह कमान उतर गया और मोरों की पाँत मे बगैर पर बदले भी पर मारने की सुविधा हो गई; मगर बरसों का बंद पंछी पिंजरे का दरवाजा खुला पाकर भी कहीं पंख फड़फड़ा कर रहा गया···तो ?

"खोला क़फ़स पर ताक़ते परवाज़ ही नहीं
बुलबुल, तेरे नसीब को सैयाद क्या करे!"

वैसे डान्स की लियाकत तो एक तरफ, वहाँ हँसने-बोलने, उठने-बैठने के भी अपने तौर-तरीक़े ठहरे। और, जब उस तमीज की पहिचान तक नहीं, लगीं उँगलियाँ उठने, तो फिर उस भरी महफिल में कहाँ के रहे हम ? और हम तो हम, हमारी श्रीमती जी का बेड़ा तो पार होने से रहा। मगर जब

शाम को मिल्टन साहब मिले, अपनी परेशानी जताई, तो आप हँस कर बोले कि कोई जरूरी नहीं कि जो जाये वह विलायती डूँस-सूट में ही जाये, खाये-पीये और फाक्सट्राट पर थिरके ही—बस, अपनी-अपनी खुशी, अपनी-अपनी रुचि। लाट और लेडी की बंदगी बजा, अलग एक क़रीने से बैठ देखा करे—कोई बात नहीं।

चलिये, फिर क्या है--रास्ता साफ़ है। जी हल्का हो उठा। यह नई दुनिया की सैर का शौक़ कुल पर आ गया। जाने कब से इस दरबारी महफ़िल की रंगीनियों के किस्से सुनते आये हैं, आज वह स्वप्न-लोक आसमान से उतर कर आँखों के सामने आ रहा है। लीजिए, मचल पड़ा कुतूहल,

सिल उठा दिए [illegible] साथ

मिल्टन साहब भी [illegible] हीं।

अन्दर जा [illegible] र कर

तैयार रहना, का [illegible] तो

हिन्दुस्तान के इ [illegible]

शान का इ [illegible] ।गमत

आई शान की इ [illegible] र है

रही है—यह मे [illegible] न भी

सभी है फ़रीड़े भ [illegible]

आख़िर स [illegible] सार,

हो रहे हम—शो [illegible] नहीं

जी ने काफ़ी बदल रखा है—एक जगह बनारसी साड़ी पर, कुछ झिलमिल जगमगाहट नहीं। वहाँ भी शृंगार तो है; मगर कुछ वैसी कला की गुलकारी नहीं कि अपनी एक जगह रहे—एक रहन की बानगी, बस।

"ऐलो ! यही बनी-सँवरी हो तुम—चेहरे पर पाउडर न पेन्ट ?"

"तो हुआ क्या—चलिये भी ।"

"नहीं-नहीं, ऐसे नहीं···क्या कहेगा कोई—सोचो ।"

"आपकी भी क्या बातें हैं—लड़की सयानी हो चली···अब भला वह रंग-रोगन ! क्या कहेगी वह—समझिये······"

"मगर वहाँ क्या कहेंगे हमारे साथी-संगी···बड़ी आई है यह राजा की रानी—जी ! आखिर तो वही कूएँ की मेढ़ुकी !"

तभी पीछे के कमरे से नलिनी की टनक आवाज गूँजती-सी आई—

"बाबूजी, हमें भी साथ लिए चलिए। बड़ा जी चाह रहा है···देख लेती, क्या तमाशा है यह ।"

"भला, तुम्हें क्या ऐसी पड़ी है आज ? दो दिन बाद तो समुन्दर पार जाकर भी देख लोगी जाने कितने ऐसे तमाशे···।"

तभी उसकी माँ भी उठ आईं बेटी की ओर से वकालत करने···

"हाँ, बस, उसी को लिए जाइए साथ। छोड़िए हमको। जब से सुनी है तभी से उतावली हो रही है बिचारी। हम अभी उसे तैयार किए देती हैं--देर नहीं। अंग्रेजी भी फर्राटे से बोल लेगी वह ।"

"भला, उसे डान्स में कहाँ लिए जाएँगे हम ! तुम रहती तो खैर···"

"क्यों, देखने में रखा ही क्या है ?"

"न भाई, फिर किसी दिन। अब वक्त नहीं ।"

और हम सीढ़ियों से खट्-खट् नीचे उतर आए—जा बैठे मोटर पर।

मिल्टन साहब तैयार ही मिले। ड्रेस-सूट में लैस। सामने मेज पर ह्विस्की का ग्लास है, होठों में सिगार। हमें देख कर जरा चौंक पड़े जैसे—'अरे, अभी तो आध घंटे की देर है—लो, एकाध पेग···'

टँग गईं हमारी आँखें। भगवान् के दिये गोरे गुलाबी चेहरे पर भी क्या-क्या गुलकारी लाई है यह पश्चिम की सौंदर्य-प्रियता! आप न मानें, न सही, मगर कहाँ स्वास्थ्य और शर्म की गुलाबी और कहाँ विलायती मसालों की रंगसाजी!

हमने मिसेज़ मिल्टन की ओर रुख़ कर कहा—"आपसे ऐसे परिचित न होते तो अजब नहीं कि बड़ी भूल होती हमसे।"

"सो क्या?"

"माफ़ कीजिए, आप दोनों तो माँ-बेटी नहीं, बड़ी-छोटी बहिन-सी लग रही हैं..."

"जी, और कौन बड़ी, कौन छोटी—यह भी एक बड़ी मुश्किल का सामना है। है न?"

मोटर पर हम सब सवार हो रहे—हँसते-खेलते। खुशामद नहीं, सचमुच मिसेज़ मिल्टन अपनी एक जगह रखती हैं इस राग-रंग की महफ़िल में।

हमने छूटते ही पूछा—"तो क्या राय, भोर की लाली देख कर ही लौटने की ठहरी?"

मिल्टन साहब ने मुँह बिचका लिया—"न भई, हम तो सपर के बाद ठहरने से रहे। उधर लाट साहब उठे, इधर बन्दा भी।"

तभी आपकी श्रीमती जी उबल पड़ीं—"जो कहो, उनके रहते तो डांस के दौर में वैसी ज़िन्दगी आने से रही। वह गए और लो, आ गया वह अपनी मौज़ पर।"

"फिर तो आप माँ-बेटी मुर्ग का बाँग सुनकर ही लौट पायेंगी!"

"जी, अपना तो यही तौर ठहरा—यही प्रोग्राम भी। रही वह, खुशी

उसकी, जब लौटे।"

पहुँच गए हम अमरावती की पौर पर। भई, यह विलायती डांस की महफ़िल भी क्या चीज़ है। बस, आँखें उड़ेल देखा करे कोई। ज़बान तो उसे अदा करने से रही। एक निराला जलवा है—जलवा। गौरांग देव और देवियों की यह अपनी दुनिया-दिव्यधाम।

वैसे तो उस डाँस के अन्दर रोमांस की गुंजाइश भी भरपूर है मगर क्या कहने विलायती तौर-तमीज़ के। पेग पर पेग ढाले जा रहे हैं, सीने से सीना मिलाए थिरक रहे हैं—आँखों में आँख है, होठों पर होठ तक—मगर कोई वैसी बात नहीं।

क्या नृत्य, क्या मधुपान और क्या चुम्बन, उनका एक अपना तौर-तरीक़ा है, कुछ वासना का तक़ाज़ा नहीं। यह बात और है कि ऐसे रसमय वातावरण में अनासक्त अनुशीलन कुछ खेल नहीं। माना कि मिस्टर मिल्टन जैसे चिकने घड़े पर कोई छींटा आने से रहा, मगर लीजिए, मिसेज़ मिल्टन हैं कि दामन पर छींटा आने की भी परवाह नहीं।

देखा, इने-गिने हिन्दुस्तानी भी हैं--हमारी माँ-बहनें भी। अधिकतर तो यहाँ ड्रेस-सूट है—जैसा देश वैसा भेष। मगर साफ़ा और शेरवानी भी अपनी एक निराली शान लिए खड़ी है विलायती लिबास की इस महफ़िल में। और साड़ियाँ तो गाउनों से बीस ही आ रही हैं अपनी सतरंगी लहरियों के उतार-चढ़ाव में।

जो विलायती हवा-पानी में पल आई हैं—उनको छोड़िए, उनके साथ तो अपनी संस्कृति की धरोहर शर्म और संकोच कोई चीज़ ही नहीं जैसे। अपने हाव-भाव के निखार में मेमों के भी कान तराश लें तो अचरज नहीं। लीजिए झिलमिल साड़ियों के चिलमन से उनके शरीर का जौहर न साफ़

छिपता है, न सामने आता है। बस, खड़ा रहता है एक कुतूहल गुदगुदाये जाती है एक झलक। मचलता रहता है पलकों पर जी और उठ-उठ आती है अपनी लगी-लिपटी। मगर, भई खूब! कितना कलापूर्ण है यह चीर-हरण का निराला फैशन! आज परिच्छद की कमी क्या है-प्रगति की सीढ़ी, सभ्यता की कसौटी।

बाजे का लहरा शुरू होना था कि कितनी जोड़ियाँ उतर आईं थिरकने फ्लोर पर। पहला क़दम तो बूढ़े लाट ने उठाया, कमाण्डर की पत्नी की कमर में हाथ दिए। फिर क्या, रास्ता खुल गया। सभी की छूट हो गई। बस, हर दौर के लिए एक पार्टनर चुन लो और सीने से सीना मिलाए थिरकते रहो बाजे की लहर पर। हाँ, एक दर्दसर है हर राउण्ड के लिए एक मनोनीत पार्टनर का चुनाव। पहले दौर में तो अधिकतर बड़े-बूढ़े ही आते हैं, जिनके साथ जी की वैसी फुर्ती नहीं, बस एक रीति की पाबन्दी ठहरी।

दस मिनट का पहला दौर ठहरा। अपना फ़र्ज़ अदा किया, फिर लौट कर इधर-उधर कुर्सियों पर बैठ गए। पेग की चुस्कियाँ चलीं, गप्पें लड़ीं और आँखें उड़ेल देखा किए जवानों के रंगीन पैंतरे। मिस्टर मिल्टन तो पहले राउण्ड ही तक गए। हाँ, मिसेज़ मिल्टन की चाह और उछाह के क्या कहने! जो भी ज़रा वैसा इस ओर आता है एक पार्टनर की तलाश में, लीजिए, मिसेज़ मिल्टन ही सामने आती हैं और सौदा पट जाता है। बिचारी लिली। उसकी न वैसी पूछ है, न पैठ। उधर 'मम्मी' को न फ़ुरसत है न तबीयत कि उस पर भी एक नज़र रखें। आँखें फाड़ देख रही है वह, चाह रही है, तड़प रही है अन्दर ही अन्दर, और उसके पास रूप-रंग और सिन सब कुछ है—पर, अपनी मम्मी के मुक़ाबले में—'बढ़ाकर हाथ जो ले-ले यहाँ मीना उसीका है'—यह कलात्मक दाव-पेंच, यह निखरी बेतकल्लुफ़ी

का अन्दाज तो नहीं। यह कला तो आते-आते आती है ऐसे बड़े पैमाने की महफ़िल में।

जाने कितने राउण्ड आए, गए। वह एकाध ही कोई अपनी पसन्द का पार्टनर पाई होगी। कभी हमारी पाँत में बैठी ही रह गई, कभी पिता के किसी साथी के साथ बेजान का रेयाज कर आई।

सपर आते-आते वह ऊब गई जैसे। होठों की वह मुस्कुराहट बुझ गई। उसका चेहरा ही गवाह है कि पहले के उछाह की जगह एक खिचाव है उस पर। कैसी गुल-फुल आई थी, क्या-क्या उम्मीदें लिए दिल के पहलू में, पर हाय री टेढ़ी घड़ी की भृकुटी! कैसी क्या हो रही है अब सपर की मेज पर बैठते! हमें तो लगा कि उसका बस होता तो सारी मेज को उलट-पलट देती, प्लेट और प्यालियों को चूर-चूर कर माता के सर पर दे मारती।

आध घंटे सपर के लिए वह डांस का सिलसिला स्थगित है। जो है वह अपनी पसन्द की कोई चीज खा-पी रहा है। कहीं कुछ, कहीं कुछ। हाँ, आगे कौन किसका जोड़ीदार होकर थिरके, यह मसला भी पेश है हर के सामने और जैसी जिसकी लगन और फन है, वैसी ही उसकी बन आती है हर बार। लीजिए, मिसेज मिल्टन तो अपनी ही धुन में लवलीन दो-चार चने-चुने उम्मीदवारों को उँगलियों पर नचाए फिर रही हैं निरन्तर। हमारी ओर आईं भी तो यह आईं और वह गईं। मिल्टन साहब तो इस हवा-पानी में भी बेलौस ही ठहरे। लाट साहब जा चुके थे। अब उनके जाने में भी कोई रुकावट नहीं। उठ खड़े हुए वह। लगे हमारी ओर झुक कर पूछने कि, क्या राय?—जी भरा या नहीं? हमने कहा कि ख़ैर, चलिए। ऐसा ही होगा तो फिर किसी दिन। आज नहीं।

"ऐसी जल्दी भी क्या है? जी चाहे, ठहरो। उनके साथ ही आना।"

"जी, कोई बात नहीं। देख लिया हमने कि कैसी क्या दुनिया है यह।"

हम दोनों डांसिंग-हॉल के दरवाजे की ओर मुड़े।

आधी रात होने पर आई है। बाजे का लहरा फिर गूँज उठा है। सपर की चहल-पहल सूनी हो चली है। जो जिसे पा गया है वह उसी की कमर में हाथ दिए थिरक रहा है बड़ी बेतकल्लुफ़ी से। लाट साहब क्या गए—डांस के रस-विलास में नई जान आ गई जैसे, महफ़िल का रंग ही बदल गया। नई फुर्ती, नई ज़िन्दगी उमड़ आई हर तरफ़।

यह नए दौर की उठान देखकर हमारे क़दम जैसे रुकने पर आए। अच्छा होता कि मिल्टन साहब को मोटर पर बिठा कर लौट आते। जाड़े की रात ठहरी—एकाध घंटे बाद ही गए तो कोई देर नहीं।

मिल्टन साहब हॉल के उस पार बरामदे में जा चुके हैं। हमारे क़दम भी दरवाजे तक पहुँचे होंगे कि देखते क्या हैं कि लिली भी बढ़ी आ रही है बड़ी तेजी से इसी ओर। हैं! इसे क्या ऐसी पड़ी है? कहाँ जा रही है वह? जवानों की अपनी मौज की रात तो अब आई है, और अब नहीं तो फिर नहीं!

मिल्टन साहब मुड़कर टोक ही बैठे—"ऐलो! तुम कहाँ चली भला! मम्मी के साथ आना—साथ।"

"नहीं-नहीं, मम्मी के साथ तो मैं किसी ऐसे डांस में आने से रही!?"

लीजिए, वह सबसे आगे ही दौड़कर मोटर में जा बैठी। अब क्या करते? साथ हो लिए हम भी।

अपना-अपना तौर

उस दिन रमेश ने आकर आसमान सर पर उठा लिया कि आज दिवाली ठहरी—माँ काली की पूजा का अपना दिन। लो, आज भी तो दुनिया से मुँह मोड़······

"ऐ लो, माँ काली की पूजा तो कभी की हो चुकी, सारा कलकत्ता ही उमड़ पड़ा था उस अवसर पर। यह क्या फिर ले उठे तुम?"

"भई वाह, हो तुम एक ही हुशियार। इतनी भी खबर नहीं कि वह दुर्गा-पूजा थी, काली-पूजा नहीं। माँ काली की पूजा-वन्दना तो आज ठहरी—समझे?"

"तो क्या दुर्गा अलग हैं, माँ काली अलग?"

"जी, महिषासुर-मर्दिनी, दस भुजा वाली दुर्गा ठहरी—चार भुजा वाली काली। वह दशहरे में आती हैं—यह दिवाली में। अब समझे?"

"क्या खूब! और जो वसंत-पंचमी के दिन आती हैं वह देवी इन दोनों से भी अलग हैं—है न?"

"लो, वह तो सरस्वती-पूजा ठहरी—तुम्हें पता नहीं?"

अब क्या कहे कोई, आखिर तो एक ही सत्ता के करिश्मे! लीजिए

जब नाम और रूप में उतर आईं तो कहीं कुछ, कहीं कुछ। कभी काली, कभी दुर्गा, कभी राम, कभी कृष्ण, कभी शिव, कभी गणेश—कोई हद है? यह बंगाल है, शक्ति-पूजा का अपना क्षेत्र। काशी में विश्वनाथ हैं, महाराष्ट्र में गणेश, अयोध्या में राम और मथुरा में कृष्ण। बस—

'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरति देखी तिन तैसी।'

और जो जिस रूप के आधार पर पला उसीका होकर रह गया। वही उसका प्रिय है वही उसका पथ्य।

दिनेश भी वहीं बैठा रहा। सुनता रहा दुर्गा और काली की पहचान की व्याख्या। हँस कर बोला, "भई, यह मूर्तियों की नुमाइश के दिन तो लद चुके।"

"लद चुके, सो क्या?"—रमेश तड़प उठा जैसे।

"यही कि मूर्ति-पूजा के बाजार में मंदी आ रही है। आज तो हँसते-बोलते बुतों का बोलबाला है हर जगह।"

रमेश चौंक उठा, "यह क्या बला है—सुनूँ भी! वही फ़िल्मी सितारे तो नहीं?"

"और क्या! चलचित्र का ही ज़माना है आज। यह दुनिया कहाँ से कहाँ आ गई, नई रोशनी, नई हवा—और तुम रह गए वही कुँए का मेढ़क, लिए बैठे हो वही पुरातन की लगन—The lure for the Primitive."

"चाहे कुछ कहो, मगर कहाँ फ़िल्म की लगन और कहाँ माँ काली का दर्शन!"

"अजी वह दर्शन तो अपने अन्दर करो। यह बाहर तो एक साइनबोर्ड है जो आज की छानबीन और तर्क के युग में कोई तथ्य नहीं रखता। बस,

पंडा-पुरोहितों ने उसके चमत्कार का इश्तहार बाँट तुम्हें नकमे में दे रखा।"

"तो उसे अपने अन्दर देखूँ। है न?...लेकिन क्या देखूँ, कैसे देखूँ अपने अन्दर? है भी कुछ वैसी पैनी दृष्टि, कि डूब कर वह अनमोल मोती ढूँढ़ पाती? दृश्य से दृष्टि फेर द्रष्टा की ओर झुकना तो लाख में एक को भी मयस्सर नहीं।"

"तो लीजिए, नाम और रूप के जंजाल से छुटकारा नहीं। भटकते रहो इसी वीथिका...इसी मरीचिका में।...कहीं अच्छा होता कि सिनेमा ही चलते। उसके अन्दर चलते-बोलते बुत ठहरे। वहाँ तुम्हें माँ के दर्शन और श्रवण दोनों ही नसीब होंगे।"

"बाज आए, जाइए आप खुशी-खुशी। आज सिनेमा से जैसी प्रेरणाएँ मिल रही हैं जनता को...नारी को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहा है वह... जाने दीजिए, अभी क्या हुआ है जो अब होगा इसका अंजाम!"

"उसके लिए फिल्म जिम्मेवार नहीं, जिम्मेवार हो तुम, तुम्हारी चाह, तुम्हारी माँग। सायन्स से तुम ऐटम-बम माँगते हो, लो, मर मिटो। तुम्हें इस संहार की जगह मानव-कल्याण के उपचार की तलाश होती और वह हाथ सिकोड़ लेता तो चाहे जो कहते।"

"तुम नहीं मानते, न मानो, पर, नर्गिस और कानन को माँ काली के रूप में तो देखने से रहे हम।"

"और माटी के लोंदे को? पत्थर के कटे-छँटे टुकड़े को? वह माँ काली के रूप में आया तो कोई बात नहीं, है न?"

"जो हो, उसके साथ यह नहीं कि आज कुछ, कल कुछ—बस एक रूप चिरन्तन...मगर छोड़ो भी यह बहस—अपनी-अपनी नजर, बस। लिए रहो तुम अपना सिनेमा, मैं तो चला अपनी ही लीक पर, चाहे कुछ हो।"

रमेश उठ खड़ा हुआ एक तैश में—जाने कहाँ चल पड़ा। हमने दिनेश की ओर मुड़कर पूछा, "तो क्या तुम सिनेमा की उपयोगिता के कायल ठहरे?"

"हैं नहीं, दो घड़ी की दिलचस्पी ही सही, यह भी एक ग़नीमत है आज के युग में। हमको हमसे छुड़ा रखती है इतनी देर—बड़ी बात है आख़िर।"

"सो क्या?"

"यही कि आज तो जो है वह अपने ही को लिए डूबा रहता है आठों पहर। यह-वह—अपनी लगी-लिपटी का ऐसा अटूट ताँता है कि किसी करवट कल नहीं। सिर चीरते-चीरते सिर फिरने की नौबत आ जाती है अक्सर। आँख खुलते ही यह सिलसिला जो चला तो फिर लो, आँख लगने ही पर इस जंजाल से छुटकारा हो पाया। अब तुम्हीं समझो, अपने द्वन्द्वों के दौर से दूर होकर किसी ग़ैर के सुख-दुख में ग़र्क़ हो जाना दो घड़ी की अपनी पनाह तो ठहरी!"

"ओ! यह बात है?"

"जी, आखिर जी की राहत तो किसी चीज़, किसी दृश्य में नहीं—अपने मन की लय में ठहरी। अब जिस छोर को थाम यह मन रम गया—जम गया, वही इस जीवन का नन्दन है। कहीं डाँवाडोल रहा—किसी ससपंज में उबचुब या वृत्तियों की कतरब्योंत से विचलित; तो लो, बैठे-बिठाए जहन्नुम पहुँच गए हम!"

आखिर 'न्यू एम्पायर' जाने की ठहरी। चौरंगी से मुड़ गए हम दाईं ओर। देखा बड़ी भीड़ है, बड़ी चहल-पहल! कोई विलायती कंपनी आई है नाटक खेलने। तो लीजिए, ये जीवित चित्र ठहरे हँसते-बोलते और उनके

विज्ञापन की कला का यह चमत्कार है कि कंधे से कंधे छिल रहे हैं चारों ओर।

दिनेश के साथ तो आसानी की तलाश उसकी घुट्टी में पड़ी है जैसे। यों खड़े-खड़े धक्के उठाने को तैयार नहीं। मचल पड़ा,—"भई, यहाँ तो गुजर नहीं, मेट्रो सिनेमा ही चलो आज।"

"अजी, जगह मिलकर रहेगी। मेरे एक मित्र हैं यहाँ प्रसाद—थियेटर के मैनेजर ही समझो, उनसे बस आँखें चार होने की देर है।"

"क्या कह रहे हो तुम, मैनेजर तो यहाँ एक कड़ियल अंगरेज ठहरा। है तुमसे परिचय?"

"कोई बात नहीं, प्रसाद उनके असिस्टेन्ट ही ठहरे, काफ़ी धाक है उनकी!"

तभी किसी की जबान का हल्लो मेरे कान पर टकराया, चौंक पड़ा मैं—हैं! यह तो हमारे ही जानी-पहिचानी साहब बहादुर ठहरे, बड़े लाट के कौंसिल के मेम्बर। उनको क्या ऐसी पड़ी है कि खा रहे हैं इस भीड़ में धक्के? जमीन उनकी, आसमान उनका, मैनेजर तो उनको सर-आँखों पर बिठाकर रखेगा···हाँ, उनकी आँखों में इस गरीब की पहचान है, यही बड़ी बात है उनकी।

"तो आप यहाँ कैसे आए, कब—कहाँ ठहरे हैं?"

"है कुछ ऐसा काम, गवर्नमेंट हाउस में ठहर गया हूँ, वहीं आकर मिल जाना कल किसी वक्त।"

"मगर यहाँ आप खड़े क्यों हैं इस धक्के में? मैनेजर को फोन से जता दिए होते तो बॉक्स रिजर्व रखता।"

"कोई बात नहीं···आओ···क्यू में खड़े हो।"

"कमाल कर दिया आपने ! आप खड़े होंगे क्यू में ? आपके ज़रा-सा इशारे पर बॉक्स के टिकट हम गरीबों के सर पर भी बरस जायँ। अभी जाकर उनके असिस्टेन्ट को जताए देता हूँ, वे खुद आकर सर-आँखों से..."

"अजी, यह थियेटर है, कोई दरबार नहीं। बस, आदमी के लिबास में आओ—जैसे सब वैसे हम।"

अब कहाँ किससे मिलते—साथ हो लिए हम भी। खड़े हो गए उनके पीछे। लीजिए, एक ताँता बँध गया टिकट की खिड़की के सामने—कोई बड़ा-छोटा नहीं—सब बराबर। हाँ, खिड़की पर आकर आप बॉक्स के टिकट लें या गैलरी के—खुशी आपकी, आगे या पीछे जैसी जगह मिले। देखा, भरमार है साहब और मेम की। हिन्दुस्तानी तो बस, इने-गिने होंगे—जो हैं वह उसी कतार में खड़े हैं – मगर यह नहीं कि सर पर हैट नहीं तो उनका पल्ला झुक गया। काले और गोरे के बटवारे के वे दिन अब जा चुके। वह रंगभेद अब अन्दर चाहे जो हो, बाहर नहीं।

जाने कितने बरसों पर आज एम्पायर थेटर के दर्शन नसीब हुए। बरामदे में क़दम रखे नहीं कि तिरने लगे आँखों में वे दिन जब शेरवानी और साफा बड़ी मुश्किल से जगह पाते रहे यहाँ। धोती-कुरते की तो ख़ैर, कहीं न पूछ थी न पैठ, चौरंगी के किसी होटल या थेटर में।

जमाना भी क्या से क्या आ गया--आज लुट गई वह हैट की हैकड़ी, आ गया वह टोपी की बराबरी में। माना कि वही अँगरेजी अमलदारी है—वही गद्दीनशीनी; फिर भी यह सब-कुछ क्या वही है ? है वह आनबान—वह तान-तेवर ? लीजिए, गांधी-टोपी की आलमगीरी की चुनौती ने उनकी सारी हठधर्मी की मिट्टी पलीद कर धर दी जैसे।

तभी अन्दर से आर्केस्ट्रा की मधुर रागिनी कानों पर गूँज उठी—

तड़प उठा जी···खिड़की की मंजिल पहुँच भी न पाए थे हम—

हमने मुड़कर साहब बहादुर से कहा—"आप थेटर के मेनेजर को तो जानते होंगे?—"

"क्यों नहीं, यहाँ कुछ नया थोड़े ही आया हूँ—इन्टरवल में तो भेंट होकर रहेगी।"

"अच्छा होता कि आप आगे बढ़कर उनसे कह ही देते कि ऐसी जल्दी भी क्या है, आप हॉल के अन्दर बैठ जाते तो तमाशा शुरू होता।"

"भला कहीं ऐसी भी फरमाइश होती है? वक्त की पाबन्दी ही तो हर व्यवस्था की सफलता की पहली शर्त्त ठहरी।"

अब कोई क्या कहे? तो यह विलायती हवा-पानी का असर है क्या?

जो हो, टिकट लेकर हमलोग हॉल के अन्दर बैठ गए। जो पहले आये वे आगे बैठे, जो बाद आए वे पीछे—कोई हो वह, मिनिस्टर या मजदूर। इन्टरवल के वक्त साहब बहादुर और मेनेजर की आँखें चार हुईं, हाथ मिले, हँसी की हिलोरें उठीं और खड़े-खड़े एकाध पेग की चुस्की भी चली। हम भी साथ हो रहे, दिनेश भी, मगर हाँ, हमने अपनी पसन्द की चीज़ ली, उन्होंने अपनी। और लीजिए, हवे में सिगरेट के धुएँ के छल्ले बनाते दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

तमाशा खत्म हुआ—हमलोग होले-होले कतार बाँध बाहर आए। पोर पर मोटरों का इन्तजार रहा—वही नम्बरवार मोटरों का ताँता—जो पहले आया है वह पहले जा रहा है। लीजिए, साहब बहादुर भी उसी पाँति में खड़े हैं—भई वाह। बड़े आये हैं बड़े लाट के मिनिस्टर। जी, एम्पायरथेटर क्या आए, वह बड़प्पन का ताव ही बुझ गया जैसे।

[२]

अब हम पटने आ गये हैं—ज़माना भी कहाँ से कहाँ आ गया है आज! गांधी-टोपी तो क्या से क्या हो गई। दाँतों-तले उँगली है सब की। जो कल तक जेल में चक्की पीसती रही, वह आज सर-आँखों पर है हमारे।

उस दिन शाम को टहलते वक्त दिनेश से आँखें चार हुईं—लीजिए, वह भी लौट आया है अपने घर की पौर पर। साथ हो लिए। बातों के सिल-सिले में पता चला कि पटने में एक नई फिल्म आई है, अपने ढंग की निराली। बड़ी चर्चा है—चहल-पहल। वह ठहरा फिल्मी दुनिया का आशना—खड़े-खड़े मचल पड़ा कि बस, चले-चलो—शुभस्य शीघ्रम्।

हमने कहा कि हिन्दुस्तानी फिल्मों को देखकर क्या पाएगा कोई, अपना कुछ खोएगा ही उल्टे। वही उठती डील-डौल और लचकती कमर की नुमाइश, वही हावभाव का तूमार और वही बेवक़्त की शहनाई—अंधाधुन्ध नाच-गान की भरमार। आँख और कान तक उनकी पहुँच जो हो, दिल तो अछूता ही रह जाता है अक्सर। और मन ही न रमा तो फिर तमाशे के राग-रंग में रखा ही क्या है!

मगर वह काहे को सुने!

"अजी, यह कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं, नई दिशा मिलेगी—नई प्रेरणा भी।"

मचल पड़ा अन्दर से शौक़, पर हम साफ़ खुले नहीं।

"अच्छा भई, जैसी तुम्हारी खुशी!"

टिकट लेकर अन्दर बैठ भी न पाये होंगे कि मैनेजर और मालिक दोनों ही नज़र आए सामने दरवाजे पर। दिनेश ने छूटते ही कहा—"देखा, यह आज का तमाशा ही ऐसा है कि कोई भी तटस्थ नहीं—और तुम हो कि

रस की पहिचान तक नहीं। आज हॉल में कहाँ तिल रखने की जगह भी है ? वक्त हो चला—बैठ जाओ जी उडेल।"

मगर पल पर पल जाता रहा—बाजे का लहरा रह-रह कर गूँजता गया—पर वह न आया जिसका इन्तजार था। दिनेश ने कलाई की घड़ी देखी—"लो, टाइम तो हो गया—यह देर कैसी ?"

कहीं घड़ी तो तेज नहीं—पाँच मिनट और आँखें फाड़ देखा किये। कोई सुनगुन नहीं। यारों ने तालियाँ देनी शुरू की, मैनेजर ने आकर माफ़ी माँगी—बस, अब शुरू होने में देर नहीं।

मैनेजर साहब जाने-पहिचाने ही ठहरे। पास जाकर पूछा तो पता चला कि मिनिस्टर साहब का इन्तजार है। मोटर पर बैठ चुके हैं, आते ही होंगे।

"तो आपने उनको निमंत्रण दे रखा है क्या ?"

"अब जो आप समझिए। कल एक पार्टी में भेंट हो गई, बातों के सिलसिले में इस नई फिल्म की चर्चा छिड़ आई। आप ठहरे भी इस रस के आशना, हमने अपनी ओर से निमंत्रण दे दिया—आइए, जरूर आइए।"

"मगर सीट सारे तो भर चुके—जगह दे पायेंगे आप ?"

"अभी एक सोफा रखे देता हूँ—कोई बात नहीं।"

फिर क्या था—दोनों ओर हमारी कुर्सियाँ सरका दी गई, एक कोच लाकर बीच में रख दिया गया—जैसे-तैसे। हम उठकर बाहर आए तो देखा कि हाथों में फूल-माला लिए मालिक खड़े हैं। उधर मैनेजर पड़ोस के एक फोटोग्राफर को कैमरा तैयार रखने के लिए ताक़ीद कर रहे हैं। बड़ी चहल-पहल है चारो ओर। सीढ़ियों पर फूलों के गमले रखे जा रहे हैं। एक ओर मेज पर चाय की तश्तरियाँ सजी जा रही हैं बड़े तपाक से।

दिनेश ने मुड़ कर पूछा—"कोई एड्रेस भी दिया जायगा क्या ?"

"नहीं तो—वक्त कहाँ है ?—सुनते नहीं, क्या सनसनी है हॉल के अन्दर !"

"तो फिर यह चाय-पानी"............

"देखा जाएगा, वे आयें तो—'सब उनपर है निछावर, वह सामने तो आयें !"

हमने झुक कर दिनेश से कहा—"लो दिनेश, सुन लिया न—तुम बड़े बेताब हो रहे थे तमाशे के लिए, यहाँ कुछ और ही गुल खिल रहे हैं। मिनिस्टर साहब तशरीफ़ लाएँगे, धूप-दीप-आरती होगी, पुष्पांजलि होगी, नैवेद्य की परिपाटी होगी, तब कहीं जाकर......जी ! 'खुम आयेगा, सुराही आयेगी तब जाम आयेगा'—समझे ?"

"तो यह 'तब' की भी एक ही रही !"

"जी, हिन्दुस्तानी राज है न, वक्त की पाबन्दी कोई चीज़ ही नहीं।"

हुआ भी वही। यारों ने हॉल में आसमान सर पर उठा रखा तो क्या, गाने-बजाने के दो-चार रंगीन पैमाने छलका कर उन्हें बहला रखा गया।

लीजिए, आ गए मिनिस्टर साहब, दो हमजोली भी साथ आए। जी-हुजूरी का बाज़ार गर्म हुआ, स्वागत के कैसे-कैसे पैंतरे चले, गले में फूल-माला दी गई, खड़े-खड़े फोटो तक ले लिया गया। उधर आप हैं कि घबरा रहे हैं, शरमा रहे हैं, लेहाज से झुके जा रहे हैं, 'यह क्या कर रहे हैं आप !'—एतराज भी किए जा रहे हैं—माथे पर बल है, ज़बान पर 'ओफ' भी—मगर वह जो किसी ने कहा है न कि—

कोई मुँह चूम लेगा इस 'नहीं' पर
शिकन रह जायगी योंही जबीं पर,

तो बस, लीजिए किसी 'नहीं' की सुनता कौन है ? जो है वह अपने

शील और शौक़ का ताना-बाना बुने जा रहा है बेलौस। आख़िर शक्ति की पूजा तो जाने कब से हमारी धमनी की प्राणधारा ठहरी!

चपरासी दौड़कर टिकट की खिड़की पर आता है टिकट लेने—मगर कैसे ले, किससे ले, खिड़की के पट तो खुलने से रहे। मैनेजर साहब दौड़कर दरवाजे का परदा सरकाते हैं—"आया जाय अन्दर, देर हो रही है।"

आप पौर पर खड़े हैं—बुत! इनकार करें तो मुश्किल, स्वीकार करें तो मुश्किल, बस 'भई गति साँप छुछुंदर केरी!'

तभी सिनेमा के मालिक बड़ी नर्मी से झुक कर हाथ थाम लेते हैं और लिये आते हैं आप को हॉल के अन्दर। हमजोली भी साथ ही हैं, रिजर्व सोफे के इर्द-गिर्द जो पहले से कुर्सियों पर पैर लटकाये बैठे हैं वे उठकर रास्ता देते हैं, कुर्सियाँ सरकाए लेते हैं—और आप चौतरफ़ी बंदगी और ख़ातिर-दारी के शिकार, धीरे से बैठ जाते हैं सोफे पर। अपने लेहाज़ में चूर··· मजबूर, थाम लेते हैं हाथ में नाश्ते की तश्तरी भी। और लीजिए, इधर चाय आती है उधर सामने स्टेज के पर्दे पर तस्वीरें दौड़ आती हैं उसी पल।

तमाशा ख़त्म हुआ। लौट आये हम अपनी रोज़मर्रे की दुनिया में। जाने कितनी देर उसने हमको हमसे छुड़ा रखा—अब चाहिए क्या—जी-बहलाव हो तो ऐसा हो!

देखा, लोग उठ रहे हैं, जा रहे हैं बाहर। फिर क्या, उठ खड़े हुए हम भी। मिनिस्टर साहब की पार्टी आगे बढ़ी, पीछे हो लिए हम।

जो उन्हें जान रहा है वह बच कर जा रहा है, झुक रहा है, जोड़ रहा है हाथ भी। जो नहीं जान रहा है, उसे साथी-संगी राह पर लिए आते हैं कंधे थाम।

दरवाजे पर ही मैनेजर साहब खड़े हैं, हाथ की तश्तरी में तबकदार

बीड़े हैं—सिगरेट के डब्बे भी; तपाक से पेश कर रहे हैं, फरमाते हैं—"हुजूर, एक अर्ज़ है।"

"हाँ-हाँ, कहिये"

"यही कि इस गरीब के घर दो पल तक्लीफ़ फरमाते। परसों हुजूर के बच्चे की मुँहलगी ठहरी।"

लीजिए, हॉल के बाहर भी क़दम न गए होंगे कि सर पर चौतरफ़ी फरमाइशों की झड़ी बरस आई। भला इस मूसलधार में कोई कैसे कहाँ पनाह ले! ओह! ऊँचा ओहदा पाना भी एक मुश्किल का सामना है। यह मसनद की हवा कुछ बहार का ही सन्देश लिए नहीं आती, उसके अन्दर पुरवैया का झोंका भी है बेजोड़।

आप बुत! वही ससपंज—इनकार करें तो मुश्किल, स्वीकार करें तो मुश्किल—"देखिये, कहीं बाहर न जाना रहा तो जरूर"······

तभी एक साहब बोल उठे—"अजी, तुम सुबह ही फोन पर दरियाफ्त कर लेना, समझे?"

हठात सिनेमा के मालिक भीड़ चीर सामने आते हैं—"हुजूर! अगले महीने में एक बड़ी ही लाजवाब फिल्म आ रही है, अभी से अपनी अर्जी दिये देते हैं"—

"मगर भई, माफ़ करना, अपनी एक शर्त्त है।"

"सो क्या हुजूर?"

"यही कि ऐसी ख़ातिरदारी का हंगामा रहा तो फिर······"

"भला हुजूर! यह भी कोई बात है?"

"है नहीं, बड़ी वैसी बात है यह।"

"जी नहीं। यह तो कुछ भी नहीं—यह हुजूर के ही क़दमों का साया

है कि जिए जा रहे हैं हम इस तंगी में।"

आ गए हम पौर पर। "ऐ लो! मोटर सामने खड़ी नहीं—कहाँ मर रहा है वह ड्राइवर?"—मिनिस्टर साहब ठमक पड़े—लगे कलाई की घड़ी देखने।

मैनेजर दौड़ पड़े—कैसे क्या हो गया यहाँ? हम भी आगे बढ़े अपनी गाड़ी की तलाश में। तभी देखा, मोटरों की लम्बी कतार खड़ी है—जो आगे आई है वह आगे रही, जो पीछे आई वह पीछे पड़ी। और मिनिस्टर साहब सबके पीछे आए तो क्या—ड्राइवर उसे लिए आ रहा है सबके आगे—पुलिस-सिपाही और चपरासी तमाम मोटरों को डण्डे के हाथ रोके खड़े हैं, हुजूर की मोटर को जो सबके आगे जगह देनी ठहरी!

तभी दिनेश हँसकर टोक बैठता है, "यह हिन्दुस्तानी तौर-तमीज भी क्या चीज है—है न?"

"सो क्या?"

"जानते हो न, लंडन के हाइड पार्क के सामने सम्राट् के अपने भाई ड्यूक की कार जाने किसकी मोटर से टकरा पड़ी। पुलिस ने ड्यूक को रोककर उनका लाइसेन्स तलब किया—कार का नम्बर ले लिया। यह नहीं कि वह ड्यूक को पहिचानता न हो पर उसकी नजर में अपनी ड्यूटी की पाबन्दी पहले है, ड्यूक की बंदगी पीछे। और लो, हमारे यहाँ हाल की बात है—कलकत्ते के सुहरावर्दी साहब बड़े मिनिस्टर के ड्राइवर की अपनी भूल से सड़क पर कोई बच्चा सख्त चोट खा गया। पुलिस दौड़ी आई कार का नम्बर लेने, तो लो, लेने के देने पड़े उलटे। ड्राइवर ने वह डाँट बताई कि जा, जा...गंगा के पानी में मुँह धो आ, तेरी शामत आई है—शामत! सिपाही चुप! लगा हाथ जोड़ने कि माफ़ करना भाई, हम नये आये हैं—पहिचाना नहीं!"

"हाँ सुनो, कुछ साल पहले की बात है, लाट साहब की मोटर सासाराम से गुजर रही थी, रेलवे लाइन पार कर Grand Chord की चौड़ी सड़क पर जाना रहा। लो, फाटक बंद, सिगनल डाउन। आ गई पाइलट कार, उतर पड़े पुलिस अफसर, फाटकदार के सिर हो रहे—खोलो फाटक, खोलो··· वह देखो, लाट साहब आ ही पहुँचे। फाटकदार अड़ गया—नहीं खोलते, कोई आये; सिगनल गिरा है—चारा ?"

"तो गलत क्या कहा उसने ?"

"हाँ-हाँ, क़ायदा तो यही ठहरा—मगर कोई ट्रेन तो सामने दिखती न थी--जाने कब आये और इधर लाट साहब कब तक अपनी नजरों से डगर बुहारते खड़े रहते ? बस, दो सिपाहियों को लिये टूट पड़े हमारे देशी पुलिस अफसर—अबे, खोलता है या जूतियाँ खाकर ही···इधर लाट साहब की कार रुक गई, फाटक बंद, फाटक पर हो-हल्ला, उतर पड़े वह, जान गये माजरा क्या है। बस, फाटकदार को बुलाकर पूछते हैं—क्यों बे! बड़े लाट के लिये भी तू खोलता नहीं ? ट्रेन सामने होती तो खैर···। वह हाथ जोड़ बोला—हुजूर, यही नियम है, चाहे सम्राट् ही क्यों न आयें! लाट साहब मुड़ गये पुलिस अफसर की ओर—देखा ? तुम भी सीख लो यह सबक़। हमारे साथ भी नियम की पाबन्दी पहले है—अपनी खुशी पीछे। और, वह चटफाटकदार को दो दस-दस के नोट इनाम दे बैठे।"

"अच्छा जी, कहीं आज के हमारे गवर्नर या मिनिस्टर होते····तो ? कौन होता इनाम का हकदार ?···पुलिस अफसर या फाटकदार ?"

"तुम्हारा सर! अजी, सदियों का गुलामी का जूआ रह आया है अपने कंधों पर—यह जड़ता तो जाते-जाते जायगी न!"

अपनी-अपनी व्यवस्था

देखिये न, एक वह भी अँगरेज थे, जो हमारे कितने उपयोगी उद्योगों के साधनों पर क्या-क्या नहीं सितम ढा गये, टिकाऊ की जगह लुभाऊ विदेशी माल की खपत के लिये; सुनते हैं, कितने कारीगरों के हाथ तक कटवा लिये कि न रहे बाँस न बजे बाँसुरी; और उसी अँगरेजी हुकूमत के अंदर एक ऐसे भी आये, जो भारतीय दर्शन की कितनी भूली-भटकी विभूतियों को—काल की कालिख में लिसी-लुटी हीरे की कनियों को धो-माँजकर प्रकाश में लाये, विलायत की आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा देने कि जिस भारत को तू पैरों तले रौंद रहा है आज, उसके पैरों की धूल के बराबर भी तू नहीं था एक दिन। और, अँगरेजों के अन्दर अपनी लगन और धुन भी ऐसी होती है कि जब जिसे उठा लिया, उसे सिर-आँखों पर उठा लिया, उसी के पल्ले अपनी जिन्दगी तक उड़ेल दी। तो, जिस देश से क्लाइब और कार्न-वालिस आये अपने छल-बल और कौशल से हमारे तमाम संबल को लूट कर अपनी झोलियाँ भरने—उसी देश से एनी बेसण्ट और ऐन्ड्रयूज भी आये हमारे पूर्वजों···ऋषियों की अनमोल देन को दुनिया के आगे जगमगा कर धर देने।

याद आ रहा है हमें आज वह दिन जब हमने मुनि की रेती के पड़ोस में स्वर्गाश्रम के किनारे केवल कोपीन पहने दो ऐसे अँगरेजों के दर्शन पाये जो हिमालय की तराई में जाने कितने साल से योग-साधना की ऊँचाइयों को, दुनिया से मुँह मोड़, हल करने में लवलीन थे। एवरेस्ट की ऊँचाई के हल से भी वह बीस ही ठहरा, उन्नीस नहीं। हमारी तो दाँतों तले उँगली थी कि एक कड़ियल विलायती गोरा और ऐसा महात्मा? लोक तो उनका है ही, अब ये परलोक भी लेकर रहेंगे क्या?

तो यह हमारे मित्र मुरेल साहब भी अपने ढंग के निराले थे जैसे। आप पास-पड़ोस के चीन्हे-जाने ही नहीं थे, आपसे गहरी छनती भी रही बराबर। गोरा साहब होकर वह एक हिन्दुस्तानी से ऐसा घुल-मिल सकता है, किसी को कुछ लगा, किसी को कुछ। कहीं कुतूहल, कहीं विस्मय; कहीं भय और कहीं व्यंग्य भी।

भला एक फिरंगी से ऐसी गहरी दोस्ती? दाँत-काटी रोटी हो जैसे। मगर भई, कोई लाख भूरे का पाग दे, करैला करैला ही रहेगा, वह केला न होगा। वह कभी होने को है अपना? गोरे की प्रीति तो बालू की भीत ठहरी, भीत!

जी, मानी हुई बात है कि गोरे और काले में दिल का मेल-जोल आसमान का फूल है जैसे, फिर भी, यह सब कुछ तो आदमी पर है, कुछ रंग या जाति पर नहीं। आखिर भले और बुरे कहाँ नहीं? गोरा भी दिल का काला हो सकता है, काला भी दिल का साफ़! और, वह अन्दर से भी गोरा रहा तो अचरज क्या?

दुनिया को जो कुछ इस देश की देन है—हमारा दर्शन, हमारा शिल्प, हमारा साहित्य या हमारी ललित कला का अनुपम आयोजन—उसे जानते

रहने की, तह तक पैठकर बिखरे मोती चुनने की बड़ी गहरी चाह और उछाह थी उनमें ।

भारतीय नृत्य, वाद्य और गान, हमारी राग-रागिनी के विविध पहलुओं की छानबीन तो उनकी अपनी धुन थी निरन्तर । सुबह और शाम जब अपनी रोटी-दाल की दुनिया से फुर्सत रहती तो इसी राग-रंग में शराबोर रहते आप । और लीजिये, ऐसी रस-मस्ती का आवेश रहा कि टटोलते-टटोलते उनकी उँगली स्वर की नब्ज़ पर जा पड़ी । कौन क्या राग गा रहा है, सुर और लय का निबाह कैसा है, यह जानकारी भी आते-आते आ ही गई । हाँ, विहाग उनको बहुत प्रिय था, तिलक-कामोद भी ।

अक्सर हम और वह जब वेर-डूबे साथ रहते तो यही चर्चा छिड़ी रहती । हाँ, उनकी बड़ी चाह थी कि हमारे कान अँगरेज़ी गान में भी रस पाते । वह भी अपनी एक जगह रखता है, जिसे जानते रहने से हमारा निखार ही होगा, कुछ उतार नहीं । मगर न जाने क्यों, अगरेजी गीतों की लड़ियाँ लाख सुरीले गले से क्यों न आयें, हमारे कान तो उन्हें दिल तक उतारने से रहे । हमारी यह तंगदिली चाहे जो हो, पर चारा ? शायद आदमी जिस हवा-पानी में पल आता है, उसका असर तो जाते-जाते जाता है अपनी जिन्दगी के ताने-बाने से । जभी तो अपने घर के भोजपुरी चलते गाने भी जो रस लिये आते हैं हमारे दिल के कानों तक, वह तो किसी उस्तादी गाने को भी कभी नसीब नहीं । वहाँ जाने-अनजाने मस्त झूम जाते हैं हम, यहाँ अपने को समेट कर कान दे पाते हैं बस । हाँ, यह गाने-बजाने की अपनी दुनिया होती तो शायद गुरेल साहब की तरह हमारी भी वैसी उद्दीपना हो पाती ।

देखिये न, अँगरेज़ी साहित्य हमें कितना प्रिय है, अँगरेजी ज़बान

कैसी अपनी, अँगरेजी खान-पान कैसा मजेदार! क्यों? चूँकि बचपन ही से जो यह लौ लगी तो दिन दूनी रात चौगुनी होती गई और लीजिये, आज भी ज्यों की त्यों बनी है निरन्तर!

माना, जिसे रस के नशे की तलाश है उसके लिये विदेश की ब्रांडी रहे तो, घर की गुलाबी रहे तो, कोई बात नहीं। फिर भी, वह जो किसी ने कहा है न कि—

"छुटती नहीं है मुँह से वह काफ़िर लगी हुई।"

तो लीजिये, वही मुँह-लगी दिल की लगी बन कर हमारी पोर-पोर में बस गई है अनजाने।

हाँ, मुरेल साहब की चौड़ी नजर के क्या कहने! ग़नीमत है यह अँगरेज इस अपनापन के युग में! अक्सर उनके साथ हम विलायती रस-रंग की महफ़िल में भी खुशी-खुशी जाते।

याद नहीं, सम्राट् के अभिषेक का उत्सव था या क्या ऐसा अनूठा अवसर—साहबों के पैर जमीन नहीं छूते अपनी उमंगों की मौज में। बड़ी चहल-पहल थी, नाच-गाने का अन्यतम आयोजन!

मैदान में आलीशान शामियाने खड़े हैं, मिले-जुले, ऊँचे-ऊँचे कनातों से घिरे भी। शामियानों के अन्दर अँगरेजों की अपनी दुनिया है। सजधज का वह ताना-बाना कि आँखें फाड़ देखा करे कोई! नाच-गान का सारा सरंजाम है—उनकी अपनी जमीन, अपना आसमान। और जो कुछ चाहिए सब है वहाँ—क्या बार, क्या क्लब और क्या होटल! और क्यों न हो? जहाँ धन है, वहीं साधन है और साथ-साथ धुन है तो जीवन का नन्दन भी। स्टेज के दोनों बाजुओं पर ड्रेसिंग रूम हैं, खाने-पीने के सरंजाम भी।

मुरेल साहब का आग्रह कि हम भी उस रागरंग में चलें। अपने साथ

लिये चलेंगे वह । विलायती नाच-गान का एक अपना अंदाज है, अपना सुर-ताल, जिसे देखते-सुनते और जानते रहने से हमारी प्रगति ही होगी, कुछ क्षति नहीं ।

हम वुत । सिर चीर रहे हैं कि हमारी पैठ उस मजलिस में हुई भी तो क्या, कोई पूछ तो होने से रही वहाँ । आखिर, हम लाख सर मारें, उस रंग में तो आने से रहे हम । और, गोरों की नजर में अपना रंग पहले है—मनुष्य पीछे । जब हमारे साथ बराबरी का दावा नहीं तो हम कोई नहीं, कहीं के नहीं । दिल से दिल तो मिलने से रहा, फिर डान्स के चिकने फ्लोर पर कन्धे से कन्धा मिलाने से फ़ायदा ? मगर लीजिये, मुरेल साहब सिर हो रहे, किसी कतर-व्योंत की गुंजाइश ही न रही । आपने हमारी दुखती रग पर अपनी उँगली भी रख दी—"देखो भई, इसी शामियाने में परसों तुम्हारी अपनी महफ़िल भी होगी । तुम्हारे ख्याल और ठुमरी, तुम्हारे तवले और सारंगी भी रंग लायें—यही प्रोग्राम है अपना ।"

"क्या सच ?"—हमने चौंक कर पूछा ।

"जी, इसमें पूछना ही क्या ? हमारी कमिटी ने यह प्रस्ताव पास भी कर दिया है । आखिर तुम्हारा भी हक़ है बराबर । बस, आज के जलसे में हमारे मेहमान तुम हो, परसों तुम्हारे मेहमान हम होंगे ।"

"तो आप आयेंगे हमारी महफ़िल में ?"

"जरूर, वहाँ आकर कुछ पायेंगे ही, कुछ खोयेंगे नहीं ।"

[२]

सौ रात की एक रात है यह । पछैया का वह झोंका है कि हड्डियों पर बोल उठे । ऐसी सर्दी—ऐसी कनकनी कि विलायत भी मात है आज । मगर चारा ? जबान जो दे चुके थे हम । आख़िर अलस्टर से लैस और गले में

मफलर लपेट साथ हो लिए हम भी। अब पछैया झोंके या पुरवैया—कोई बात नहीं।

लीजिये, पहुँच गये अपनी मंज़िल पर। अँगरेज मेमों की ऐसी भीड़ तो इस जिंदगी में कभी नज़र न आई। हाँ, यह कोई दरबारी महफ़िल तो थी नहीं। यहाँ क्या सिपाही, सर्जेएट और क्या कमाएडर—सब बराबर। कहीं ऊँच-नीच नहीं; बड़ा-छोटा नहीं। मगर क्या मजाल कि कहीं कोई अपनी जगह पर न हो? यहाँ साक़ी भी है, सुराही भी और उठती जवानी की जादूनज़री भी, मगर साथ-साथ अपनी तौर-तमीज़ की पावन्दी भी ऐसी कि कहीं कोई पेंच ढीला होने से रहा। कौन है यहाँ जो वार पर गला तर नहीं करता है मगर किसी के कंधों पर लदकर घर जाना तो दूर—ज़बान भी अपनी शिष्टता की तीलियों पर ही पंख फड़फड़ा कर रह जाती है।

कहीं मैं-तू की खींचतान नहीं, शोर-गुल नहीं। अपनी बँधी-सधी लीक का अनुशीलन विलायती शिष्टता की ऐसी देन है कि एक पत्ता भी खरक नहीं पाता। क्या कहने उनके अनुशासन के! जो भी आता है—साहब या मेम—अपना मफलर और कोट उतार कर दरवाजे के आसपास किसी अलगनी पर फेंक देता है और घुस पड़ता है अपने सूट या गाउन में चुस्त-दुरुस्त। उसे इतमीनान है कि बाहर जो चीज़ उसकी रह गई वह अपनी जगह पर बनी की बनी रहेगी बराबर।

हम तो दंग हैं कि ऐसी बड़ी महफ़िल और ऐसी निखरी शांति? यही तो बड़ी बात है उनकी। पहला प्रोग्राम कैबरे डान्स का है। बाजे का लहरा साथ है। यह भी उनकी एक अपनी चीज़ है जिसे हम क्या कहें, कैसे कहें? पैरों में घुँघरू नहीं, मंजीर-शिंजन नहीं, फिर भी वह नृत्य का अनुशीलन, अंगों का सलील संचालन तो हमारे लिये एक कुतूहल है अधिकतर। हाँ,

कैबरे की युवती अपनी एक निराली अदा लिये आती है स्टेज पर। उसकी फुर्ती, उसकी डील-डौल की चुस्ती तो सर पर चढ़ कर बोलती है जैसे।

लीजिये, 'शमा महफ़िल में जब आई तो हवा भी आई'—वह जोर-शोर की हवा उठी कि हवा हो गये होश! कैसे क्या करे कोई इस आँधी-पानी में? शामियाने के सारे खम्भे तो पेड़ों की झूमती डालियाँ बन गये। कनातों के कम्पमान कलेवर तो देखा करे कोई! अलगनी पर लटके कोट-मफ्लरों के तो जैसे पर जम गये, लगे हवा में उड़ने।

लीजिये, रोशनी भी गुल हो गई। छा गया घुप्प अँधेरा। हाँ, अँगरेजों के पैर तो उखड़ने से रहे। अपनी आन पर बने के बने रहे बराबर। हाथ सिकोड़ कर भागना कैसा? पिल पड़े वे सीना तान, भिड़ गये तूफान की चपेटों से, दौड़कर थाम लिये तमाम खम्भों को बरजोर। कनातों की रस्सियाँ तक उखड़ने नहीं दीं—पानी पड़े या पत्थर।

आध घंटे का तूफान था—आया और गया। मगर इसी देर में क्या-क्या सितम ढा गया—कहीं कुछ, कहीं कुछ। यहाँ मुकाबिला जोड़-तोड़ का था। अँगरेजों की हिम्मत और हुनर के क्या कहने! कुर्सी और कोच, फर्श और गलीचे भींग गये, उलट-पुलट गये तो क्या? शामियाना तो खड़ा का खड़ा रह गया। झटास के झोंके खाकर भी कनातों ने मुँह की नहीं खायी। मोटरें दौड़ पड़ीं—उस आँधी-पानी के शिकार बिजली के तारों को अपनी जगह पर लाने, और बात-की-बात में बुझे बल्ब चमक उठे।

फिर क्या? तूफान गया, बहार आई। जैसे-तैसे तमाम चीजें अपनी जगह पर झाड़-पोछकर सज दी गईं और मचल पड़ा—चल पड़ा नाच-गान का दौर। चन्द इने-गिने बूढ़े-बड़े पानी की बौछार के मारे अपने रैनबसेरे पर मोटरों से उड़ ही चले तो कोई बात नहीं, तरुण रक्त का तकाज़ा तो

कुछ और ही ठहरा। जवानों का जत्था तो शीशे की परी के हाथों अपनी कला के कुलेलों की छूट पाकर उतर आया मैदान में उस बेवफ़ा क़ातिल रात की धज्जियाँ उड़ाकर धर देने। लीजिए, तलवारें झूम उठीं, बिजलियाँ कौंध पड़ीं युवतियों के लचीले अंग की एक-एक लहर से जैसे। और, जब पौ फटते रात की छाती फट गई तभी जाकर यह अंग-संचालन की आन ढीली पड़ी और यह मजमा भोर की लाली देख चौंक उठा।

जोश गया, थकान आई। लौट चला साहब-मेमों का काफ़िला। मगर लौटे तो कैसे लौटे? कोट-मफ़लर तो अलगनी पर रहे कहाँ? कहाँ उड़ गए, पता नहीं। शुरू हुई तलाश। कोई कहीं मिलता है, कोई कहीं। अच्छी तफ़रीह भी रही। जिसे देखो, वही इसी धुन में ढूँढ़ रहा है कोना-कोना। हाँ, जो पा लेता है वह घर का रास्ता लेता है गुलफुल।

आध घंटे तक यह छान-बीन रही। मिल गईं सारी चीजें। बस, दो-चार मफ़लर जाने कहाँ भटक पड़े।

हमें घर लौटने की पड़ी थी। कैसे क्या करें? आए थे मुरेल साहब की मोटर से, चारा? और, मुरेल साहब ठहरे अपनी धुन के धनी। छान रहे हैं कोना-कोना अब भी। छेड़ ही बैठे हम—'जाने दीजिए, तूफ़ान के मत्थे खेल कोई उड़ा ही ले गया तो अचरज क्या? ऐसा नादिर मौक़ा तो फिर आने से रहा।'

"नहीं-नहीं, यह भी कोई बात है? ऐसी विषैली तो हिन्दुस्तान की हवा होने से रही। जानते हो न, हमारे यहाँ लन्दन में तो लोग छोटी-मोटी दूकानों पर बैठते तक नहीं। हर चीज की कीमत टँकी, कैश बक्स सामने रखा है। बस, दाम पढ़ कर जो चीज चाहे ले लो। पैसे उसी बक्स में डाल दो। अखबारों की बिक्री तो गली-गली इसी ढंग से होती है। दूकान खोल

खुद बैठने की कोई वैसी हाजत तक नहीं। फिर, हम यह कैसे मान लें कि यहाँ आकर उनके भाई-बन्धु कुछ और के और हो गए।"

तभी आवाज़ आई कि रहे-सहे मफ्लर भी मिल गए, पास की झाड़ियों के तले से लिपटे पड़े थे कहीं।

[३]

लीजिए, आज रंग कुछ और है। वैसे तो वही शामियाना है, वही कनातों का घेरा, वहां कंधे से कंधे छिलना, मोटरों का ताँता भी। फिर भी, यह सब कुछ क्या वही दुनिया है? है वह नियम का अचूक अनु-शीलन?—वह अनुशासन? कहाँ हर किसी के साथ वह ड्रेस-सूट की अटूट बँधी लीक, कहाँ यह अपनी-अपनी पसन्द, अपना-अपना शौक़। बस, सब की छूट, जब आए, जैसे आए। कहीं कुरता-धोती है, कही पैजामा-शेरवानी; कहीं कोट-पैंट है, कहीं और कुछ।

माना कि उठने-बैठने, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के तौर-तरीक़े अलग हुए तो क्या, यह भेद तो सतह पर है बस। कोट-बूट रहे या धोती-चप्पल, हम खड़े-खड़े हाथ से हाथ मिला बैठे या हाथ उठाकर सर तक ले गए, कोई बात नहीं। पते की बात तो यह है कि कोई एक नियम नहीं, वह शान्ति का वातावरण नहीं। वह शोर-गुल, वह हलचल कि बेमाथ की फौज भी मात है इस धमा-चौकड़ी के आगे। हमारे जातीय जीवन के दामन पर यह छींटा नहीं तो क्या है?

आज हम मुरेल साहब को अपनी मोटर से साथ लिए आए। उनके साथ दो और विलायती सज्जन भी थे। सभी हमारी ललित कला के उपासक और लुत्फ़ यह कि उनकी सजधज भी हिन्दुस्तानी ही रही—In Rome be a Roman. कल उनके ड्रेस-सूट में हम थे, आज कोट

और ढीले पाजामे में खुल खिल रहे हैं हमारे गोरे साहब।

खा-पीकर आते कुछ देर हो ही गई तो क्या, यहाँ वक्त की पाबन्दी तो कोई चीज़ ही नहीं। लोग इधर-उधर बिखरे खड़े हैं। लड़ रही हैं गप्पें, गूँज रहे हैं क़हक़हे! कितने तो जैसे टहल रहे हैं, देख रहे हैं, शायद आड़ी-तिरछी निगाहों से पर्दे की आड़ में तैयार होती हुई 'कला-केन्द्र' की विभूतियों को। और, लीजिए, दो-चार ऐसे भी हैं जो मसनद के सहारे फर्श पर चित लेटे बुने जा रहे हैं अपने सपनों के ताने-बाने बेलौस।

हमने चाहा कि साहबों के लिए अलग कुर्सियाँ रख दी जायँ। मगर, कैसे कहाँ रखें—इसी उधेड़-बुन में, आज के जलसे के अध्यक्ष की तलाश में दायीं ओर मुड़े होंगे कि क्या देखते हैं कि मुरेल साहब अपने दोस्तों को लिए चटपट जूते उतार फर्श पर जा बैठे। बैठते ही एक सनसनी-सी छा गई इर्द-गिर्द। लगे लोग आँखें फाड़ देखने—हैं! यह काग की पाँति में विलायती बक! वह भी काग की पाँख बाँध?

उनका आना अच्छा ही हुआ। आसपास की हलचल शान्त हो रही। कहाँ बेतकल्लुफ़ी का बाज़ार गर्म था और कहाँ आ गए लोग अपने दायरे में। सब चुस्त-दुरुस्त होकर बैठ रहे और लगे छपे हुए प्रोग्राम के पन्ने उलटने। कानों-कान ख़बर फैल गई। हमारी समिति के मंत्री महोदय ने हाथ का सिगरेट फेंकते हुए स्टेज पर आकर तमाशा शुरू होने की घोषणा भी कर दी।

तो वह न आते तो इतना जल्द हम आदमी के लिबास में आते?

नाच-गाने का प्रोग्राम अच्छा ही रहा—कल से कहीं कलात्मक, कहीं पुर-असर! हमारे साथ वैसी आन-बान, वह प्रचार और विज्ञापन चाहे न हो, मगर संगीत और नृत्य को जिस ऊँचे पैराये तक हम उठा पाए हैं, उस

मंज़िल का हल तो पच्छिम के लिए आज भी आसमान से सितारे तोड़ना है जैसे। पच्छिम की अपनी राग-रंग की दुनिया है, अपनी ललित कला। पर, वह हमारी इन्द्रियों पर ही गुल कतर कर रह जाती है अधिकतर। दो पल हमको हमसे अलग जो कर पाए, कुछ हमको हमसे ऊँचा उठा नहीं पाती।

मुरेल साहब के अन्दर जो जिज्ञासा मचल रही थी, वह अपनी मुराद कहाँ तक पाई, जानें वह। हाँ, वह सुर के सुरूर में वैसे विभोर न होते तो उनकी चेष्टा की रवानी कुछ और होती। उनके दोनों दोस्तों का रवैया तो साफ़ था, कभी डूबते, कभी उत्तराते, लगते सामने कलाई की घड़ी देखने। चलते तराने के आशना चाहे जो रहे हों वे, तिलक-कामोद की ऊँचाई तक उनका गुज़र न था।

आधी रात जा चुकी है। उठ खड़े हुए वे दोनों। मुरेल साहब से माफ़ी माँग चलते बने। हम उनके साथ हो लिए। उन्हें मोटर तक पहुँचा देना हमारा फ़र्ज़ था।

लीजिए, आ गए हम पौर पर। मगर यह क्या? एक साहब के जूते गायब! हम देख रहे हैं, ढूँढ़ रहे हैं एक-एक जोड़ा उलट-पुलट कर। उनके नए जोड़े का पता नहीं। तभी हाँ-में-हाँ मिलाने उठ आए हमारे ही एक भाई-बिरादर—जी हाँ, हमारा एक नया जोड़ा भी मिल नहीं रहा है। अभी जो एक सफ़ेदपोश साहब यहाँ से उठ कर गए, क्या जाने वही हाथ साफ़ कर गए हों बैठे-बिठाए!

लीजिए, यह अच्छा मज़ाक रहा! कहाँ-से-कहाँ लाने गए हम गोरे साहबों को अपनी इस महफ़िल में!

शर्म से झुक गए हम। यह किसी ऐसे-वैसे का काम नहीं। है कोई

होशियार लफंगा। चोरों की ही चाँदी है क्या आज ?

पल पर पल जाने लगा, हमारी तलाश वनी की वनी रही। आखिर वह साहव जामे से वाहर झल्ला उठे—"भला, देखो तो! कल उस तूफ़ानी झोंके, उस घुप्प अँधेरे में भी एक मफलर तक गुम न हुआ और यहाँ शरीफ़ों की मजलिस, सामने सिपाही तक मौजूद, और लीजिए, कई नए जोड़े गायव! यह भी कोई बात है?"

हम तो वुत! चाह रहे हैं कुछ कहना, मगर कैसे क्या कहें—कहिये!

तभी उनका साथी भी उवल उठा—"जाने दो, चलो। यह अपना-अपना 'नेशनल कैरेक्टर' ठहरा। देखा नहीं, कल चाँदनीवाजार में दूकानदारों का क्या रवैया रहा? दाम कहते हैं कुछ और पैसे लेते हैं कुछ। ऐसी जुआचोरी कहीं हमारे यहाँ भी......"

"जी हाँ"—हमारी जवान खुल पड़ी अनायास—"हम ठहरे ग़रीव, गुलाम भी। हमारे हिस्से चोरी ही आई; जो ताजदार हैं, हथियारवन्द, उनके हिस्से तो दिन-दहाड़े लूट-डकैती......लहू-चूसी तक ठहरी—वह भी दो-चार की नहीं, हजारों-हजार की। आज एशिया की तो कल अफ्रीका की—" और, लीजिए, वात-की-वात में कहाँ से कहाँ आ गई वात? तड़प उठे दोनों गोरे।

"अजी, यह लहू-चूसी नहीं, मवाद-चूसी ठहरी, समझे? यह नश्तर है, नश्तर, ताकि तुम्हारी आदमी की खाल सड़ कर वदवू न दे। आज तुम खड़े हो पाते किसी मनुष्य—किसी सभ्य की पाँति में? लिए रहते वही भूत, छूत और पत्थर के वुत!"

और, लीजिए जले पर नमक—"मैं पूछता हूँ, हमारे यहाँ भी सुनी है तुमने किसी पुलिस-सिपाही या किरानी के साथ घूसखोरी? ऐसी वैठे-विठाए

चोरी तो वहाँ कभी हुई न होगी।"

"जी, गुस्ताखी माफ़! यह बला तो आप ही के क़दमों की देन ठहरी। हमारे यहाँ ऐसी बातें कब थीं, कहाँ थीं, पहले? मकानों में दरवाजे तक न थे—अगले जमाने में। आज भी हिमालय की तराइयों में जहाँ आपकी सभ्यता पहुँच न पाई है, किसी के यहाँ न पहरा है न ताला।"

तभी शोर-गुल सुन मुरेल साहब भी आ पहुँचे। पल में उन्होंने परिस्थिति भाँप ली। चट अपने साथी की ओर मुड़कर बोले—"अजी, छोड़ो भी। यह भी कोई बात है? हजारों-हज़ार जूतों के अम्बार में एकाध जोड़े भटक ही पड़े तो अचरज ही क्या?......वैसे तो भले और बुरे कहाँ नहीं होते? पूरब हो या पच्छिम, कहीं भी सभी दूध के धोये नहीं। मनुष्य तो सब बराबर हैं—अपनी प्रवृत्ति या परिस्थिति के हाथों विवश कोई चाहे जो हो। हो सकता है, ऐसी रवारवी में कोई किसी का जोड़ा पहन ही लिया हो भूल से।......तुम्हें घर जाने की पड़ी है तो लो, हमारे जूते पहन लो। अपना रास्ता लो। हम तो अभी जाते नहीं। जाते वक्त तुम्हारे जोड़े तलाश लेंगे—कोई बात नहीं।"

बस, मुरेल साहब अपने दोनों कड़ियल दोस्तों को विदा कर हमारी ओर मुड़ लगे उनकी तरफ़ से माफ़ी माँगने। हम से तो कुछ कहते बना नहीं। कहते क्या? हमारी आज की बेबसी जो न कराये! महफ़िल तो महफ़िल, मन्दिर की पौर भी इस धाँधली से बरी नहीं।

जाति और रंग

एक दिन वह था कि हर गोरा, सम्राट् का जोड़ा बनकर मूँछों पर ताव दिये इठलाता रहा हमारे यहाँ--'सम्राट् भाविया पूजि सवारे'। किसी ट्रेन में वह नजर आ गया तो बगैर उसकी मर्जी उस डब्बे में क़दम रखना भी हमारे लिए ख़तरे से ख़ाली नहीं था। और, लीजिए, १६४७ का एक वह दिन भी आया कि हमारे प्रान्त के एक कड़ियल साहब-बहादुर अपना बिस्तर समेट चलते हुए, तो किसी डब्बे में खड़े होने की जगह भी नसीब न होती, अगर उनकी बेबसी पर हम वहाँ खिंच न आए होते उस पल। तो यही दुनिया का दौर है—यही दिन का फेर। कभी कुछ, कभी कुछ। और, अपना किया-कराया भी तो लौट आता है अपने सर पर एक दिन।

तो जाने कितने साल, याद नहीं, यह जमीन उनकी थी—आसमान उनका। सूरज को भी यह हुक्म था कि ख़बरदार, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर कभी डूबना नहीं। हमारी तो कोई हस्ती ही न थी—घर के न घाट के। अपने बड़े-बड़ों का भी कहीं गुजर नहीं। कोई तैश में आकर अपना हक़ माँग बैठा तो खड़े-खड़े कोरा जवाब पा गया कि जा-जा, यह मुँह

और मसूर की दाल ? तेरी दाल तो यहाँ गलने से रही। हाँ, लाख-दस-लाख में कोई तक़दीर का सिकन्दर उनकी नाक का बाल चाहे जो रह आया हो, यह ऊँचे पद का प्रसाद तो कोई नियम नहीं, नियम का व्यतिक्रम था उन दिनों।

मगर हाँ, जब ज़माने की ठोकर पर हमारी आँखें भी खुलते खुलते खुल गई और दुनिया के आईने में हमने अपनी गई-बीती सूरत देखी, तो लीजिए, हमारे अन्दर भी स्वाभिमान ने अँगड़ाई ली और अपने पैरों पर खड़े होने की सुध आई।

बस, आँख खुली, अन्दर के पट खुले और खुल पड़े होंठों पर लगे ताले भी। फिर क्या ? ताल ठोंक उतर आए मैदान में। कितनों ने तो हथेली पर जान तक रख दी। बंग-भंग की क्रान्ति आई। सरगर्मी आई। और, उस खींचतान की दीवार पर लगे रद्दे पर रद्दे चढ़ने।

अँग्रेज बौखला उठे। साम, दाम, दण्ड और विभेद—ये चारों हथियार आज़माते चले। मगर जब साबरमती फ़ैक्ट्री से अहिंसा का अनूठा अस्त्र ढल कर आया तो फिर इस ब्रह्मास्त्र का जवाब तो सरकारी तरकस में मिलने से रहा।

तो उसी 'साम' की देन हमारे आँसू पोंछने 'मान्टेगु रिफॉर्म' आया और वह अँग्रेजी सत्ता का फौलादी पंजा ज़रा ढीला पड़ा। लीजिए, इक्के-दुक्के हिन्दुस्तानी कहाँ से कहाँ उठ आये! शासन के प्रांगण में जो हाथ बाँधे खड़े रहते बराबर, वे अब अफसरी की ऊँची कुर्सी पाने के हक़दार हो गए!

मगर, सौ बात की एक बात, यह बराबरी की ऊँची कुर्सी सरकारी नीति थी—नीयत नहीं! हमारी कमर में तलवार झूम गई तो क्या, वह कमर

की मेखला ही रही—कोई हाथ की सत्ता नहीं। गङ्गा-जमुनी म्यान से बाहर निकाल अपनी मुट्ठी में थाम ले कोई—यह जोर तो हमारी उँगलियों को नसीब न था। हाथी के दाँत दिखाने को और, खाने को और।

फिर भी गनीमत थी यह ऊँची कुर्सी की अफसरी उन दिनों। कितने छोटे-मोटे साहबों ने तो लहू का घूँट पिया। विलायती सरकार की ऐसी खुशामदी नीति के धुर्रे उड़ाते रहे अपनी खास मजलिस में गुपचुप। मगर चारा? घड़ी की सूई तो पीछे लौटने से रही।

हमारे जिलाधीश की तो पाँव-तले की धरती सरकने पर आई। जिला-बोर्ड की चेयरमैनी की कुर्सी छोड़ते उनको जान पर आ गई जैसे। वे चाहने लगे कि सारे मेम्बर लिख कर यह फतवा दे दें कि इस जिले के अन्दर कोई ऐसा हिन्दुस्तानी नहीं जो इस कुर्सी की जिम्मेवारी उठा पाये। और लीजिए, हमारे कितने भाई-बिरादर साहबी हवा का रुख देख अपनी नाव पर पाल बदलने के लिए तैयार भी हो गए। देश की मर्यादा की नाव मझधार में जाती है तो जाए, उनकी निगाह पर तो देश नहीं--साहब का आदेश था बस। हाँ, दो-चार ऐसे जरूर निकले जिनके स्वाभिमान की आँख का पानी मरा नहीं था। उन्होंने साहब के विरोध में हमारा नाम रख दिया।

एम० ए० की डिग्री लेकर हम नए आए थे इस मेम्बरी की गली में—नई चाह थी, नया उछाह। सरकारी नीयत चाहे जो हो, सरकारी नीति तो एलान हो चुकी थी और उस नीति के पाबन्द जिलाधीश की यह अनधिकार चेष्टा नहीं तो क्या थी? उनमें कौन ऐसे लाल जड़े हैं कि ऊँची कुर्सी पर गोरा ही बैठे, दूसरा नहीं? जो दिन गए—गए। अब यह कैसे सम्भव है कि हम इस आये हुए अवसर का अपने हाथों गला घोंट दें।

बस, लीजिए, बाज़ी छिड़कर रही। क्या-क्या नहीं पैंतरे चले! मगर साहब और उनके ख़ुशामदी मुसाहबों की हज़ार बन्दिशों के बावजूद भी हमारा मोहरा लाल होकर रहा। रह गए जिलाधीश टका-सा मुँह लिए! यही नहीं, प्रान्त के ऊँचे अफ़सरों के हाथ उनकी मरम्मत भी अच्छी हुई चूँकि दी हुई चीज़ के लिए यह अपनी रीझ कैसी! और, जाने-अनजाने रीझ आई भी तो फिर बाज़ी न आई, बदनामी ही हाथ आकर रह गई!

उन दिनों जिलाधीश की मर्ज़ी तो विधि की मनमानी रही जैसे। हमपर अपना गुस्सा उतारने से बाज़ न आए। क्या-क्या सितम नहीं ढाये! मगर कब किसकी बनी रही है और कब किसकी बनी रहेगी निरन्तर?

आख़िर— "सितम बेगुनाहों पर आसाँ न समझें,
तड़प जाइयेगा जो तड़पाइयेगा!"

तो बस, हुआ वही। हमने ऊबकर प्रान्त के गवर्नर के आगे सारे कच्चे चिट्ठे खोल कर धर दिए, साँच को आँच क्या? बात लग गई और जिलाधीश को मुँह की खानी पड़ी आख़िर!

तभी हमें पता चला कि साहब के साथ कुछ ऊँची कुर्सी की ही लगी न थी, अपने भाई इंजीनियर का साथ जो छूट रहा है! वह जा रहा है एक नेटिव की उँगलियों के इशारे पर थिरकने--यह तो साहबी शान और मान पर एक धब्बा था जैसे। गवर्नर की उँगली उस दुखती रग पर जा पड़ी और उन्होंने इंजीनियर रॉस्टन साहब को और हमको अपने यहाँ डिनर पर बुलाकर आपस के मेलजोल का रास्ता साफ़ कर दिया—किसी छत्तीस के रिश्ते की गुंजाइश ही न रही!

वह सर पर छाये हुए बादल छँट गए। आसमान साफ़ हो गया और हमने इस नई दुनिया की ज़िम्मेवारियों को जी उड़ेल उठा लिया अपने

कंधे पर। रॉस्टन साहब कुछ ऐसे-वैसे नहीं, अपने ढंग के निराले निकले। कभी तो लगा कि कोई सगा भी वैसा क्या होगा। वह बेतकल्लुफ़ी, हँसी-खुशी कि उमड़ा आता हो दिल जैसे। और, कभी वह दूरी—वह अपने काम से काम की मनोवृत्ति कि उनके अन्दर का ताल-सुर उनका मौला ही जाने।

हाँ, जानते-जानते हम एक-दूसरे को जान गए, पहचान गए। उन्होंने हमारे अन्दर क्या-क्या पाया, जानें वह। हमने तो पाया कि उनके अन्दर एक ओर मानव है तो दूसरी ओर दानव। और, हो-न-हो, वह फिरंगी पहले हैं आदमी पीछे। वैसे तो वह अच्छे ही रहे—हमसे कहीं अच्छे। अपनी जबान, अपने ईमान के सच्चे ही दीखते, इन्साफ़पसन्द और दर्दमन्द भी। गरीब की आह का भी एक असर था उनके दिल पर। मगर ये सारी बातें रहीं तो क्या, कहीं किसी के चलते फिरंगी अमलदारी की किलेबन्दी पर कोई आँच आने का अन्देशा दीख गया तो फिर ईमान क्या और जान क्या? अपने देश के स्वार्थ की रक्षा के लिए सर्वस्व निछावर। बस, जहाँ अपनी शाहंशाही का प्रश्न आया—ब्रिटिश साम्राज्य की आन-बान का सवाल, वहाँ तो किसी समझौते की गुंजाइश ही नहीं। बस, वही—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव'!

मगर यह होते हुए भी वह कुछ ऐसे अंधे न थे कि जब गांधी की आँधी आई और गोरों के लहू-पसीने से सींचे हुए पेड़-पौधे उखड़ने पर आए तो शुतुरमुर्ग की तरह रेत में अपनी चोंच को गाड़ अपने सपनों की मौज में मग्न रहें। उनके चेहरे पर भी एक रंग आने लगा, एक रंग जाने लगा। वैसे तो आमने-सामने उस आँधी की खिल्ली ही उड़ाते रहे, हँस-हँस कर क्या नहीं चुटकुले छेड़ते। मगर हमारे लिए तो पते की बात यह थी:

कि वह रहा-सहा तान-तेवर भी दूर होता गया और रह-रह कर लगे उनके पैर ज़मीन पर आने।

अक्सर हम साथ ही दौरे पर जाते। डाक-बँगले में साथ ही ठहरते, साथ खाते-पीते भी। दिन-भर तो अपने काम से काम रहता--वह कहीं; हम कहीं; मगर जब बेर डूबती और थके-माँदे लौट आते हम बँगले की पौर पर, तो लीजिए, बैठे-बिठाये मीने की परी आती; उनकी आँखों में तरी लाती, उनकी ज़बान में फुर्ती भी।

जेठ की दुपहरी। लौट रहे हैं 'मोहनिया' से रॉस्टन साहब के साथ। मोटर की सवारी है तो क्या, ऐसी धूप और लू में देहाती सड़कों की धूल छानना कोई बाएँ हाथ का खेल नहीं। कहाँ खसखस की टट्टी की आड़, पंखे की हवा खाते, कहाँ खा रहे हैं बालू की रेत में अंधड़ के लौ उगलते झोंके! और, हम तो हम, साहब बहादुर के तो होंठों पर दम है जैसे! मगर चारा? बरसात के पहले पड़ोस का पुल जो तैयार कर देना ठहरा और उनके साथ अपना काम पहले है, आराम पीछे। यह ज़िम्मेवारी की मनोवृत्ति न होती तो कभी की सरक गई होती उनके पाँव-तले की धरती।

छोटे-से एक गाँव से मोटर पास कर रही है। हैं! यह क्या? एक हंगामा खड़ा है सामने। यह भीड़ कैसी? यह चीख़-पुकार कैसी? आयहाय! यह कहाँ आने गये हम! मोटर तो आगे बढ़ने से रही!

देखा, गाँव के चंद बड़े-बूढ़े बड़े तैश में हैं। उनके कुएँ के अन्दर किसी चमार के छोकरे ने अपनी डोलची लटका दी थी पानी भरने। सामने के बन्द किवाड़ की फाँक से बड़ी बहू की नज़र जा पड़ी। फिर क्या? उन्होंने आसमान सर पर उठा लिया! छोकरा सर पर पाँव रख कर भागा, मगर भागकर जाता कहाँ! घिर गया। और, लीजिए, बरसने लगे उस पर लात-

जूते। चमार टोली से उसका बाप दौड़ कर आया तो वह भी लगा बेटे ही पर हाथ साफ़ करने कि ऐसा किया क्यों ? बड़ी प्यास थी तो टोले-मुहल्ले से दो चुल्लू माँग ही लेता। ऐसा क्यों किया ?

हम तो दंग। पता चला, गाँव में दो ही कुएँ ठहरे। दोनों ही उनकी पहुँच के परे। उनका अपना कुआँ तो कच्चा ही ठहरा जो जेठ आते-आते दम तोड़ बैठा। आस-पास कोई नदी-नाला नहीं। अब किसी कुलीन की आँख में पानी रहा तो अपने घड़े से उनके घड़े में उड़ेल दिये पानी, नहीं तो चलिए, एकाध मील एड़ियाँ रगड़िये किसी तलैया की तलाश में।

चमारों का चेहरा उड़ चुका था। पानी तो पानी, अब तो दो दाने चने के भी लाले पड़ जाएँगे—लाले। उनमें से एक रॉस्टन साहब के पैरों पर लोट गया। साहब बहादुर आ गए बड़े ताव में।

"अबे पगले! तुम्हें चाहिए क्या, तुम नहीं जानते। हाँ, तुम चाहते क्या हो, मुझे सब पाता है। मैं तो कहता हूँ, इस हवा-पानी में तुम्हारा गुज़र नहीं। बस, अभी बिस्तर समेट चल पड़ो यहाँ से। हमारा क्रिश्चियन मिशन कुछ दूर नहीं। वे तुम्हें खुशी-खुशी अपना लेंगे। वहाँ तुम्हें खाने-पीने ही की नहीं, तुम्हारे बच्चों के पढ़-लिख कर ऊँचे उठ इन जल्लादों के कान उमठने की भी बन आएगी एक दिन—समझे ?"

वे लगे आँखें फाड़ उनका मुँह जोहने। कोई जवाब नहीं। कुलीनों की टोली लगी तालियाँ देने—"ले सुन, कहाँ लिए जा रहे हैं यह साहब बहादुर···कुएँ में भठने—कुएँ में।"

उनको तो साँप सूँघ गया जैसे—बुत। मुड़ आए हमारी ओर। हमने कहा कि तुम्हें तो एक अपना कुआँ चाहिए न—यह कोई बड़ी बात नहीं।

"क्या सच, ऐसा ?"—उनकी बाँछें खिल उठीं।

"इसमें पूछना ही क्या, अभी आर्डर दिये देते हैं।" और हमने चट एक आर्डर लिखकर रॉस्टन साहब के हवाले किया कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के रुपये से इनके लिए एक पक्का कुआँ अलग तैयार करा दिया जाय! साहब छेड़ बैठे कि पहले मीटिंग से बक़ायदे मंज़ूरी जो लेनी ठहरी!

"कोई बात नहीं, यह ज़िम्मेवारी मेरी रही: आप अपना काम अंजाम दें।"

लीजिए, कुलीनों की टोली बौखला उठी। उन्हें जानने को बाक़ी न रहा कि आर्डर देने वाला यह है कौन—कहाँ का! बस, घेर लिए हमको। दो-चार लगे स्तोत्र पढ़ आशीर्वाद देने, अपनी गाथा भी सुनाने। उनकी दलील कि कसूरवार जब ये ठहरे, आए कुलीनों के कुएँ में दिन-दहाड़े ही सेंध देने, तो फिर यह कैसा इन्साफ़ कि कोतवाल की जगह उल्टे चोर ही इनाम पाए—वह भी अपने जिले के एक माने-जाने रईस के हाथ!

हमने कहा कि हवा और पानी का कहीं बँटवारा नहीं। उनका हक़ भी इस कुएँ पर बराबर ठहरा। आखिर, कुएँ के अन्दर रेंगते कीड़े-मकोड़े से भी ये गए-गुज़रे हैं क्या?

उनमें एक ज़रा होशियार रहा—दुनियादार भी। भाँप लिया हमारा रुख़। चट अपना पहलू बदल दिया। लगा कहने कि यह कुआँ भी तो सूख ही चला है। वैसा पानी होता तो फिर आज यह छीना-झपटी की नौबत आती?

हमने कहा कि बनो मत! तुम्हारे कुएँ में पानी न सही, तुम्हारी आँख में पानी जो नहीं! और, बनते हो तुम बड़े पानीदार! यही अति आचार तो अत्याचार ठहरा! आज तुम उन्हें कुएँ में पानी भरने नहीं

देते—न दो, मगर एक दिन इसका अंजाम तुम्हारे सर बीत न गया तो कहना। तुम उनके सामने पानी भरोगे—पानी।

मोटर से चल दिए हम। रॉस्टन साहब के पेट में तो पानी पचने से रहा। उगल बैठे—

"आज जो तुम उठे हो पश्चिम से जिस बराबरी का तोहफ़ा माँगने, उस बराबरी के दो दाने भी अपने यहाँ इन गरीबों को दिये रहते तो तुम्हारी बात अपनी एक जगह रखती। यों तो यह ज़बानी लनतरानी ठहरी जो हम-जैसे जानकारों पर कोई रंग लाने से रही।"

"जी, अब देर नहीं—गांधी की चौतरफ़ा आँधी में वह ज़ोर है कि कट्टरता के तमाम कुलाबे उखड़ कर रहेंगे—देशी हों या विदेशी…हाँ, मैं भी पूछता हूँ, आपने कब-कहाँ दिया वह बराबरी का दर्जा एशिया के अन्दर….?"

"क्या कह रहे हो तुम? हमारे यहाँ तो जो भी आदमी के लिबास में आए, वह बराबरी का दर्जा पाकर रहेगा—देर-सबेर। उसका हक़ है यह। वह कौन है, क्या है, कहाँ का है—कोई बात नहीं। तुम्हें भी आदमी की पौर पर लाने के लिए हमने कुछ उठा रखा? भूल गए, कल की बात है, तुम अपनी बहू-बेटियों को जलती चिता में झोंक देते रहे बेकसूर! हमारे लार्ड बेंटिक न आए होते तो कौन तुम्हारे सर से वह भूत उतार फेंकता? आज भी उस बेचारी को खुली हवा, खुली रोशनी तक नसीब नहीं, बराबरी की जगह तो दूर। वही हमारा चपरासी है रोशन, जो जब कभी बाहर जाता है तो घर में ताला ठोंककर जाता है…इतमीनान जो नहीं!"

हम चुप सुना किये। क्या कहें, क्या न कहें—यही उधेड़-बुन बनी रही।

रॉस्टन साहब कहते चले—

"वही कहता हूँ कि तुम पहले अपने को ही देखो। अपनी कमज़ोरियों

से आँखें मूद न लो। हम न आये होते तो तुम कहाँ के होते आज? तुम्हारे नाम से भी दुनिया को शर्म आती रही—शर्म!...तो भाई मेरे! इन गरीबों की आह बेकार न होगी। तुम नहीं मानते, न मानो, पर मेरी बात गिरह बाँध रखो, वह दिन दूर नहीं, जब यह जाति-भेद का जुल्म पलट कर आयेगा तुम्हारे सर, और अभिजात्य साम्राज्य की यह बोझी हुई नाव मझधार में डूबकर रहेगी।"

हम लहू का घूँट पीते रहे। कहते क्या? यहाँ जाति-भेद का भूत तो भारत के सर पर शनिश्चर का तेवर है आज भी!

[२]

दिन पर दिन जाते रहे। क्या-क्या दिन आए और क्या-क्या दिन गए। लीजिए, वह दिन भी आया कि हमारे जिले के गोरे-अफसरों की किलेबन्दी की नींव की ईंटें भी खिसकने पर आईं!

अबतक अंग्रेज अफसरों का अपना अड्डा रहा—आरा क्लब। शाम आई और क्लब में जान आई। वह खान-पान, वह हँसी-खेल की हिलोरें उठतीं कि रात को रात क्या कहे कोई! एक-से-एक राग! एक-से-एक रंग! और, सनीचर की रात तो उनकी अपनी रात थी—बहार की सौगात लिए आती वह। जिले के जाने कितने जाने-माने अंग्रेज प्लैन्टर भी आकर शामिल हो जाते।

तो लीजिए, इसी क्लब की मेम्बरी के लिए हमारे नये सिविल सर्जन भी उम्मीदवार हुए। आप ठहरे देशी, कोई विदेशी नहीं। हाँ, आई० सी० एस० होते तो दो पल में उनका मोहरा लाल हो जाता। वैसी उम्मीदवारी होती न पैरवी।

आई० सी० एस० होना उन दिनों इसी शरीर से गौराङ्ग देवों के दिव्य

धाम तक उठ जाना था। जमीन उनकी—आसमान उनका। क्लब में उनकी पैठ धरी होती—पूछ वैसी न हो, न सही। जभी तो मिस्टर दत्त और उनकी पत्नी सरोज नलिनी देवी हमारे जिले में कदम रखते ही क्लब में तो दाखिल हो गए पर जब टेनिस के डंडे लेकर लॉन में खेलने उतरे तो मियाँ-बीबी ही रह गए गेंद उछालते—दो-के-दो, बस! न दो और आए और न खेल में जान आई। और तो और, मिस्टर मेटलैन्ड आई० सी० एस० अंग्रेज होकर भी जब एक बंगाली युवती को व्याह कर क्लब में ब्रिज खेलने आए तो अपने भाई-बिरादर भी वह रुख़ पलट बैठे कि दो से चार होने की नौबत ही नहीं आई कि ताश बँटे!

मगर तब से अब तक जाने कितना गंगा का पानी पुल के तले से जा चुका था! अब तो हिन्दुस्तानी की पैठ ही नहीं, पूछ भी रही—बला से, दिखावे की ही सही! क्या टेनिस, क्या ब्रिज—साथ-साथ हँसते-खेलते और कहीं श्रीमतीजी नयी रोशनी की प्रगतिशील निकलीं तो फिर क्या? हाथ से हाथ ही नहीं—सीने से सीने भी मिलते डान्सिंग फ्लोर पर! हाँ, दिल से दिल मिलने का तो सवाल ही नहीं आज की दुनिया के हवा-पानी में!

तो यह हमारे नये डाक्टर चिकित्सा-विभाग के दफ्तर में जिस फिरंगी सिविल सर्जन की कुर्सी पर आए, क्लब में भी उसी साहब की कुर्सी पर उनकी जगह बनी की बनी चाहिए—इस दलील की उपेक्षा नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिए। मगर आप आई० सी० एस० तो थे नहीं—थे एक डाक्टर, माना कि ऊँची विलायती डिग्री थी, विलायती सज-धज भी। जो हो, किसी के दर पर जाकर माथा टेकना आपसे बना नहीं। नये आए थे—हसब दस्तूर सबके घर गए, सबसे मिले भी, मगर घुटने टेक उनके वोट के लिए अपनी अर्जी भी पेश करें, ऐसी हथजोरी तो उनसे होने से रही। यहीं

अपनी तमीज़ की चुस्ती तो ताजदारों की चर्बी छाई आँखों में काँटे की तरह चुभ गई जैसे। और, फिरंगी अफ़सरों के साथ अपने लिए एक न्याय था, हमारे लिए दूसरा।

लीजिए, उन्होंने न दायें देखा न बायें, चट हमारे नये डाक्टर को ब्लैक बॉल (black ball) कर दिया, चुनाव से ख़ारिज ! और तो और, रॉस्टन साहब भी ज़बान देकर मुकर गए—वोट ख़िलाफ़ दे बैठे। अब सामने आने से रहे वह। जाने कहाँ दौरे पर चल दिये। बात फूट कर रही—जानने वाले जान गये कि वह भी कहते हैं कुछ और रहते हैं कुछ।

शहर में बड़ी सनसनी रही—कानों-कान बात फैल चली। वह मेल-जोल का मुलम्मा दो दिन भी नहीं टिका—पोल खुल गई। डाक्टर साहब का तो कुछ गया नहीं—गया उनका, जो आये थे अपनी समता और समानता के क्या-क्या नक्शे लिये हमारी आँखें खोलने !

कोई दस दिन बाद चंद फ़ाइल लिए रॉस्टन साहब हमसे मिलने आये। टमाटर-सा सुर्ख़ चेहरा गुलफुल तो ज़रूर था, होंठों पर बारीक हँसी भी थी, पर हाथ से हाथ जो मिला पाये, नज़र से नज़र नहीं।

काम की बात रही। कहाँ क्या करना है, क्या नहीं—सब कह गये, समझा गये। बातों के सिलसिले में उस कुएँ की चर्चा भी छिड़ आई। वह कुआँ तो कभी का तैयार हो चुका था पर उसे 'बोर' कर देना ज़रूरी था। हरिजनों ने अर्ज़ी भी दे रखी थी।

हमने कहा—"भले याद दिलायी, याद है न उस दिन की बात ?"

"सो क्या ?"

"वही जो आपने बड़े तपाक से कहा था कि यह जाति-भेद का ज़ुलम तो पलट कर आयेगा एक दिन हमारे सिर !"

वह लगे आँखें फाड़ हमारा रुख जोहने। बोले—

"तो कुछ गलत क्या कहा, कहिए!"

"जी, पते की बात थी वह! मगर हम भी कहे देते हैं, आप गिरह बाँध रखें, वह दिन दूर नहीं कि यह रंग-भेद का जुल्म पलट कर आएगा आपके सिर बेतहाशा और गौराङ्ग साम्राज्य की बोझी हुई नाव मझधार में डूबकर रहेगी!"

रॉस्टन साहब बुत! झुक गए शर्म से। लगे यों ही सामने की फाइल के पन्ने उलटने।

दो पल बाद नजदीक सरक कर, आँखें मटका, एक अजब अन्दाज से साँसी में बोले—

"जानते हो, वह अक्सर खद्दर जो पहिनते हैं! जिलाधीश से भी पर्दा नहीं।"

"ओ! यह बात है?...तो फिर बन्दा भी कसूरवार ठहरा—खादी से इनकार नहीं!"

"मगर तुम तो कोई सरकारी अफसर नहीं; कहाँ वह ठहरे मेडिकल डिपार्टमेंट के अध्यक्ष!"

"तो यह खादी आई है सरकारी हुकूमत की जड़ खोदने—ऐसा?"

"बेशक! क्रान्ति का ही प्रतीक है खद्दर।"

"ऐसे आप जो कहिए, पर हम तो समझते हैं कि आप भी खादी अपना पाते तो फिर देखते......"

कि हठात् वह बीच ही में टोक बैठे—"भला विदेशी चीज...जान रहते..."

"जी! मगर हमारे लिए विदेशी विदेशी नहीं—मुँह की लाली ठहरी!

है न ? अपने लिए एक नीति, हमारे लिए दूसरी !"

रॉस्टन साहब सन्न। अब कैसे-क्या कहें ? अपने ही में खोए-से बैठे रहे। लीजिए, एकाएक उठ खड़े हुए, बोले—

"क्या बताऊँ, कुछ ऐसी हवा उठ आई उस दिन कि कोई भी अपने-आप में न रहा। क्या से क्या······"

"जी नहीं, यह हवा-पानी तो चिरन्तन ठहरा। कोई बरी नहीं। यह मैं और तू की धुँध कहाँ नहीं, कब नहीं ? कहीं जाति है, कहीं मत, कहीं रंग, कहीं और कुछ—कोई हद है इस अँधेर की ? हाँ, अपनी आँख का माड़ा तो दिखता नहीं, पर पड़ोसी की आँख की फूली बराबर दिख जाती है !"

अपनी-अपनी लूट

घेर डूबने पर आई है, पर गर्मी अभी ज्यों-की-त्यों बनी है। मई का महीना है—लू का वह झोंका कि किसी करवट कल नहीं। दिन तो दिन, रात भी रात नहीं हो पाती—लिये रहती है वही दिन-दुपहरी की आँच। और, शाम के झुटपुटे में अपनी हवा खाने की लत—यह न हो तो लीजिए, रात का खाना सीने पर धरा रह गया—मजा ही किरकिरा हो गया सारा।

तभी दाई आई कि हमारे पड़ोसी लालासाहब के घर से बुलावा है—आज रात वहीं खाने का न्योता भी।

तो लालासाहब बर्मा और जाने कहाँ-कहाँ से चक्कर काट लौटे आ रहे हैं डाकगाड़ी से। इस न्योते की तह में तो यह सूचना भी मिली-जुली ठहरी।

लालासाहब के घर से अपना सरोकार बराबर ठहरा—अन्दर महल में भी आते-जाते रहे हम। उनकी श्रीमती जी की वह प्रसन्न मूर्ति तो आज भी पलकों के साये में फिरती रहती है अक्सर···जब भेंट होती तो बेगैर कुछ खिलाये-पिलाये उठने नहीं देतीं। कॉलेज की छुट्टियों के दिन तो देर-सवेर उनके यहाँ हाजिरी देनी ही होती—ऐसी स्नेह की कशिश

ही रही उनकी।

हमारे लालासाहब तो अजीब थे। कॉलेज की पढ़ाई उनकी निगाह में बेकार की माथापच्ची रही। भेंट हुई नहीं कि एक अजब आवेश में छेड़ बैठते—

"तो अभी कॉलेज से जी न भरा तुम्हारा ?"

हम हँस कर कहते—"कैसे भरे ? डिग्रियों से झोली जो भरी नहीं।"

"क्यों, एम० ए० की डिग्री तो तुम्हारी झोली में आ चुकी न !"

"अभी आई कहाँ ? आनेवाली है—कहिये !"

"अजी, आई-न-आई दोनों बराबर। तुम्हारी तिजोरी तो उससे भरने से रही। आखिर उन डिग्रियों की कीमत ही क्या है ? हमने भी तुम्हारी तरह एक दिन कॉलेज की पौर पर अपनी जवानी लुटा दी। मगर, पाया क्या ?......"

"क्या नहीं पाया—कहिए। आज वह डिग्रियाँ न होतीं तो आपका बेड़ा जाने किस मझधार में..."

लालासाहब आ गये एक आवेश में। उबल पड़े—"तुम नहीं मानते, न मानो ! पर जान रखो कि युनिवर्सिटी की डिग्रियों की टोकरी सर पर लिये दो साल सरकारी कचहरियों में 'दही-दही' करते फिरे, मगर कुछ न पूछो, जिस मंडी से गुजरे, वहीं अपनी-अपनी दहेंड़ी लिये फेरी देनेवालों की ऐसी भीड़ कि बस, कंधे-से-कंधे छिला किये। अफसरी की कुर्सी तो दूर, कोई पते की इंसपेक्टरी भी हाथ न आई। रह गये बस, हाथ मल कर। तभी हमने हाथ जोड़ लिये कि चलो, इस जी-हुजूरी की माथापच्ची से तो जान बची—बस, कॉलेज की सारी कमाई को भाँड़ में झोंक मुड़ गये फटके की दलाली की गली।...आज सर पर वह शेयरबाजार का साया न होता

तो हम कहाँ के होते—कहो !"

"तो क्या शेयरबाजार में उन डिग्रियों का कोई मोल नहीं ?"

"एक छदाम नहीं ! कहाँ ऐसे धन्नासेठ हैं जो किसी कॉलेज के हवा-पानी में फूले-फले हों ? ऐसे-वैसों का तो जिक्र ही क्या, अच्छे-अच्छों को भी वह सपना ही रहा ! आखिर कारबारियों की दुनिया में कालिदास और कारलाइल की जानकारी की कोई क़ीमत नहीं। बस, अभी उन्हें हाथ जोड़ लो। It is never too late to mend. आओ, चलो कलकत्ते के फटके के अखाड़े में—तुम्हारी पाँचों उँगलियाँ घी में न आईं तो फिर बात क्या !..."

तो ऐसे हैं हमारे लालासाहब ! कहाँ से कहाँ उठ आए ! तक़दीर हो तो ऐसी हो ! कहाँ कॉलेज से निकले डिप्टीगीरी के सपने पालते—सौ-पचास की जगह के लिए साल-दो-साल दर-दर की खाक छानी पर किसी के कानों पर जूँ न रेंगी। हाथ-पैर मार-मुड़ गए कलकत्ते। फटके की दलाली अपनाई, उड़ेल दी उसी के पल्ले अपनी सूझ-बूझ की सारी चुस्ती। फिर क्या, आज हम-जैसों को इस हाथ से खरीदकर उस हाथ से बेच दें दो पल में ! लाखों-लाख का कारबार है आज। और, दुनियादार ऐसे हैं कि जमाने की नब्ज़ पर अपनी उँगली भी है बराबर।

जभी तो साहबों की नाक के बाल हैं वह। और, अंग्रेजी तो वह फर्राटे से बोलते हैं कि सुना करे कोई ! आये दिन लंच और डिनर—बम्बई से बर्फ़ में भिगोई समुन्दरी मछली आती है तो कलकत्ते से फ़र्पो की लासानी केक और पैस्ट्री भी। हाँ, जब अपने घर की पौर है तो कट्टर हैं—क्या खान-पान, क्या रहन-सहन। पक्के सनातनी-जैसे। शुद्ध-अशुद्ध की छानबीन तक दुश्वार नहीं ! बस, बाहर हैं तो अपनी छूट है—कभी

कुछ, कभी कुछ। जब जैसी हवा आई, अपनी नाव पर पाल बदल दिया !

तो हम उस दाई के साथ ज्यों अन्दर आये कि श्रीमती जी चटपट चौके से निकल कर सामने आईं। बोलीं—"जानते हो न, आ रहे हैं डाकगाड़ी से…"

"जी, सब पता है।"

"तो स्टेशन पर जाते नहीं…"

"जा ही रहे हैं। आप भी चलिये न, मुजायका क्या !"

"यह एक ही कही तुमने—जैसे हमारे साथ भी दिखावे का रस्म है !……और, फुरसत भी तो नहीं, उनकी पसन्द की चीजें तैयार कर देनी ठहरीं।"

लीजिए, आ गये स्टेशन। देखा, काफी चहल-पहल है। सब तो सब, हमारे जिलाधीश मिस्टर जॉनसन भी दिख गये। सिगरेट के कश उड़ाते टहल रहे हैं प्लैटफार्म पर। उनका चेहरा ही गवाह है कि इन्तजार है किसी के स्वागत का। तो क्या आप भी आये हैं लालासाहब को उतारने ?—ऐसा ? यह तो साहबी शान के दामन पर एक छींटा है—छींटा। हो-न-हो, आ रहा है कोई अपना भाई-बिरादर। किसी हिन्दुस्तानी के लिए ऐसी शिष्टता की प्रेरणा तो आने से रही किसी गोरे अफसर के अन्दर। आँखें चार होते ही बात छिड़कर रही। लीजिए, पता चल गया, आपकी श्रीमती जी आ रही हैं विलायत से—आप उन्हें लेने बम्बई जा न पाये—जाने क्या ऐसी सरकारी अड़चन आ गई !··हमने कहा कि खूब ! इधर पति का इन्तजार है, उधर पत्नी का !

आ गई डाकगाड़ी। सामने के डब्बों में तो कोई दिखा नहीं—रह गये हम दौड़ लगाते।

हाँ, पीछे मुड़े तो देखा कि डाइनिंग कार से एक काफिला उतरा आ रहा है गुलफुल। साहब-मेम ही नजर आये अधिकतर। तो शाम की चाय पिये आ रहा है यह लश्कर।

लालासाहब सामने ही नजर आये—साथ-साथ एक नई रोशनी की महिला भी। विलायती या हिन्दुस्तानी, पता पाना आसान नहीं। साड़ी की जगह एक फिलमिल घाँघरा है—चेहरे पर रंग-रोगन का जलवा। तो मिल गई होगी ट्रेन में कोई वैसी—मिलने-मिलाने के फन में तो आप अपना सानी नहीं रखते। हाँ, यह शुदनी ही शुदनी है या पहले की कोई जानी-सुनी······

आँखें चार हुईं। हाथ जोड़ लिए हमने। "आ गये कॉलेज से तुम ?"—मुड़कर हमारी पीठ थपथपा दी।

तभी देखा, जॉनसन साहब अपने-आप में नहीं। दौड़े आ रहे हैं इंजिन की ओर से बेतहाशा—वह तेजी है कि दो पल की देर भी गवारा नहीं।

लीजिए, डाइनिंग कार से एक नई आन-बान वाली मेम उतर आई—मुस्कुराती, इठलाती भी बेजोड़। इधर से पहुँच आए साहब बहादुर भी सरपट। फिर क्या ? इर्द-गिर्द नजरें तनी रहीं, तनी रहीं; किसी ने दायें देखा न बायें, बस, लिपट पड़ा सीने से सीना, चूम लिए होंठों से होंठ।

हम तो दंग हैं—ऐसा भी उमड़ा आता है जी किसी का ? क्या कहने इस मस्ती की छलाँग के !

मगर नहीं, यह तो उनकी रीति ठहरी—सधी-बँधी रीति !···सच ? ऐसी छूट ? कोई लिहाज नहीं, शर्म नहीं ? इधर हम हैं कि दस के सामने आँखें चार तक नहीं कर पाते—गले मिलना तो दूर !

तो यों हजारों की भीड़ में यह खुले आम चुम्बन पति-पत्नी के मिलन

का मंगल-सूत्र चाहे जो हो, मगर भई वाह ! यह विलायती तौर-तमीज भी क्या चीज है ! यह चुम्बन भी एक दिखावे का रस्म-भर रह गया क्या !

माना कि जहाँ अपनापन का सूत्र है, वहीं यह चुम्बन का दस्तूर भी…। भाई-बहन हो या माँ-बेटा, जब कभी मुद्दत पर आँखें चार होती हैं तो होंठों से चूम कर ही प्यार का इजहार होता है—हाँ, यहाँ होंठ से होंठ नहीं मिलते, होंठ से गाल या भाल—जैसी जहाँ की चाल रही। हाथ से हाथ तो आत्मीयता का द्योतक नहीं—अभिवादन का एक आम फैशन है बस !……

मगर यह प्राणप्लावी चुम्बन भी एक रस्मी अभिवादन के धरातल पर आ गया—क्या कहे कोई ! बस, जो कुछ न हो, कम है इस फैशन का अंजाम ! और, आते-आते कहीं यह ज्वार का जोर पच्छिम से पूरब तक बढ़ आया तो लीजिए, हमारी सदियों की सँजोई-सँवारी वह आनन्द-निधि भी सरे-आम बाजार में लुट गई !

हम तो छेड़ कर रहे—

"देखा आपने…यों खड़े-खड़े प्लैटफार्म पर चूमा-चाटी—यह भी कोई सलीका है……खूब !"

हाँ भई, लगता तो है हमें भी कैसा-सा……मगर छोड़ो भी, अपना-अपना सलीका ! तुम्हें क्या ? हाँ, उस पार गए होते तो तुम्हें यह वैसी-सी नहीं दिखती। यह चुम्बन तो उनकी चाह और उछाह का एक ढंग है बस !"

"सच ? ऐसा ?"

"जी ! वहाँ जाते तो जाने क्या-क्या न देख लिए होते ! यह तो कुछ भी नहीं—एक खेल है—खेल !"

"वैसे आप जो कहिये, फिर भी ऐसी बेहयाई······"

लालासाहब जैसे ज़रा खिंच गये, बोले—"ओहो! अपनी इतनी-सी पूँजी पर यह ऐंठ! तो तुम्हें यह दिख रही है बड़ी वैसी—बेहयाई, बेपर्दगी, है न? अच्छा, एक नज़र इधर तो दो! क्या ख़ूब हयादारी है यह—यह पर्दे की बन्दिनी। यहाँ भी तो पत्नी आई है पति की पौर पर!

हम चौंक कर बाईं ओर जो मुड़े तो उस ट्रेन के जनाने डब्बे की पौर पर एक नई दुल्हिन दिख गई। पर्दे के घटाटोप में जकड़ी-सिकुड़ी गठरी-सी शक्ल लग रही है वह। ससुराल की कोई बड़ी-बूढ़ी आई है जो हाथ का सहारा दिये उतार रही है हौले-हौले—चाह रही है, प्लैटफॉर्म पर रखी पर्देवाली पालकी में उसे बन्द कर पल्ले लगा दें। दुल्हा भी कहारों का जत्था लिए पास ही खड़ा है—देख रहा है एक टक।

लालासाहब हँसकर बोले—"तो यह ठहरा आपका सलीक़ा! है न? अब ज़रा वह देखो, वह······वहाँ, कितने गोरे साहब डब्बों से सर निकाल, आँखें फाड़ देख रहे हैं कि यों बाँध-बूँध, काठ के बक्स में बन्दकर कहाँ लिए जा रहे हैं उसे—पुलिस को तो ख़बर कर दिया होता कोई! हाँ, जो जानकार हैं, यहाँ के हवा-पानी से परिचित, उन्हें भी खल रहा है कि यह क्या बला है नई वधू का अपने पति के घर आना इस गए-गुज़रे देश में! ससुराल जा रही है कि जेल जा रही है वह! खुली हवा में साँस तक नहीं ले पाती बेचारी!······तो समझे लाला? अपना नाक-नक्शा चाहे कुछ हो, अपनी आँखों से तो दिखने से रहा वह, पर गैर का चेहरा गोरा-भभूका न हुआ तो उल्टा तवा ही दिख जाता है बराबर।"

"सो तो है, मगर आज पहले-पहल जो आ रही है पति की पौर पर ······वह भी किसी ऐसे-वैसे घराने की······"

"जी ! मैं पूछता हूँ, वह पहिचान भी पाती है अपने पति को ? कहीं पति महोदय किसी स्टेशन पर ही छूट गए होते तो ? कहाँ माथा फोड़ती—क्या करती वह कूएँ की मेढकी !"

"भला वह पहिचानती न होगी—यह भी कोई बात है ?"

"पते की बात है ! सुहागरात के पहले तुम्हीं ने देखा था अपनी बहू को ? हमारे यहाँ तो वर या वधू की कोई हस्ती तक नहीं; व्याह की कील घुमानेवाले तो बड़े-बूढ़े ठहरे—स्याह-सुफेद जो करें वह। और विवाह की वेदी पर भी घूँघट का घटाटोप किसी पक्की दीवार से कम नहीं !"

"जो हो, हमारे यहाँ यह डर तो नहीं है कि विवाह के पहले ही किसी पार्क के झुरमुट में सुहागरात की रंगरेलियाँ......"

"यह तो अपनी आजादी का गला टीपना ठहरा। और, अंग्रेजों के साथ अपने नियम की पाबन्दी तो उनकी घुट्टी में पड़ी है जैसे। हाँ, अपनी मौज की मदहोशी में किसी के पैर उखड़ भी गए, तो उसे लेकर कोई तमाशा नहीं खड़ा होता वहाँ।"

तभी आपकी घाँघरावाली महिला सामने के डब्बे से उतर आई, पूछ बैठी—"हाँ, भई, भूलना नहीं—वह पिस्ते की गिलौरियाँ साथ लिये आना—वह तो तुम्हारी अपनी चीज ठहरी !"

"ऐ लो, जैसे कि हम आ ही रहे हैं एकाध दिन में।"

"तो तुम्हारा मसूरी आना अभी निश्चित नहीं—ऐसा ?"

लालासाहब आँखें नचा कर बोले—"जानो तुम, तुम्हारी चाह में कशिश होगी तो खिंच कर आ ही जायँगे बेबस !"

"बनो मत ! हमारी मसूरी तो तुम्हीं ठहरे ! तुम नहीं तो मसूरी नहीं।"

...

"अजी, मसूरी तो तुम्हारे एक-एक कदम को चूमती आएगी—जहाँ तुम्हारी मौज अपनी उँगली रख देगी वहीं सर के बल न आई तो बात क्या !"

"लो, बातें न बनाओ, सच कहो......"

कि गाड़ी की सीटी गूँज उठी। वह अपनी उँगलियों को चूम लालासाहब की ओर इशारा देती हुई दौड़ कर अपने डब्बे में जा बैठी—लगी रूमाल हिलाने।

इतने में एक गोरा साहब पीछे से दौड़ता आया और लालासाहब के हाथों में एक छोटा-सा खूबसूरत बैग थमाकर चलती गाड़ी में फर्राटे से चढ़ गया। क्या कुछ जल्दी में कहा उसने, हम वैसा पकड़ न पाये।

लालासाहब खुद ही खुल पड़े—"देखा ? यह अपनी लगी भी क्या चीज है। पति पर नजर पड़ी नहीं कि सुधबुध खो बेतहाशा दौड़ पड़ी मिलने। रह गया यह बैग डाइनिंग-कार की मेज पर। यह तो कहो कि गाड़ी में एक दर्दशरीक साथ रहा, नहीं तो......"

बात पूरी भी न हो पाई थी कि मेम साहब जिलाधीश के अँकवार से खुद दौड़ी हुई आई और लालासाहब के हाथ में अपना हैंडबैग देख मुड़कर लगी चलती गाड़ी से झाँकते हुए साहब की ओर रूमाल हिलाने।

"यह साहब कौन है—कहाँ का ?......"

"होगा कोई वैसा संगी-साथी। हमें तो डाइनिंग-कार में परिचय हुआ—बस।"

हमने फिर छेड़ा—"तो वह भी विलायत से साथ आया है क्या ?"

"हो सकता है, आया हो—कोई बात नहीं।"

"मगर शौहर हजारों मील दूर—और एक गैर से यों हिलमिल

जाना......"

"तो हुआ क्या ? उनकी अपनी रीति-नीति है, अपनी तौर-तमीज। आखिर लण्डन लण्डन है, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान। तुम्हारे यहाँ तो नारी की दीन-दुनिया की एक दिशा माँग है, दूसरी गोद। यहाँ तो मियाँ और बीवी दोनों की छूट है—अपनी-अपनी खुशी, जहाँ चाहें, हिलें-मिलें।"

हमने हँसकर कहा—"तो लीजिए, इस मौज का अंजाम जो कुछ न हो, थोड़ा है।"

"भई, यह तो तुम्हारा दृष्टिकोण ठहरा—इसीलिए तुम उसे अपनी ही नजर की कैद में रखते हो और अंग्रेज कहेंगे कि बँधी-सधी हवा में जो कुछ न हो, थोड़ा है...है न ? उनके यहाँ तो कोई प्रतिबन्ध नहीं...जो कुछ है, बस, अपना मान है अपनी आन। वहाँ सुहाग तो कोई वैसी चीज़ नहीं और न सती-माहात्म्य कोई तथ्य ठहरा। बस, अपनी पत अपने हाथ।"

"तो आप उलटे पाँव मसूरी जा रहे हैं क्या ?"

"जी, अपना प्रोग्राम तो यही ठहरा। हाँ, दो-चार दिन घर पर उनकी खातिर भी..."

"यह खातिर कैसी—रिश्वत कहिये, रिश्वत।"

लालासाहब चौंक पड़े जैसे—"रिश्वत ? यह एक ही कही तुमने।"

"जी, उन्हें शान्त-स्थिर रखने के लिए—है न ? भला सोचिये तो, वह कब चाहेंगी कि आप दो पल के लिये भी उनकी आँखों से दूर हों ?"

"अजी, सबसे पहले वह यह चाहती हैं कि उनके सर से सिन्दूर कभी दूर न हो और उनका रोआँ-रोआँ जानता है कि गर्मियों में हर साल पहाड़ की सैर उस सिन्दूर की चिर-सजावट की पहली शर्त ठहरी।"

"तो अच्छा होता, आप उन्हें भी साथ लिये जाते।"

"उनके ठाकुर जी साथ चलें, तब न। होटल में तो गुजर नहीं। और, तुम लाख सर मारो, मसूरी में भगवान् मिलें तो मिलें, पर कोई अच्छा-सा मकान तो मिलने से रहा इन दिनों।"

अब कोई क्या कहे ? बात भी है पते की। लालासाहब की दुनिया और है, उनकी और। वह सहधर्मिणी चाहे जो हों पर सहकर्मिणी नहीं—सहचारिणी तो दूर। और, जाननेवाले यह भी जान रहे हैं कि लालासाहब की विलासिता भी अपनी चादर ही में पैर रखती आई--ऐसी मुँहजोर नहीं कि अपनी पत्नी के लिये उनके अन्दर जो आदर, जो प्यार है, उस अपनापन के दौर पर कभी कोई आँच आ पाये। वैसे तो कितनी आईं, कितनी गईं, पर कोई भी उनके दिल की पौर पर झाँक न पाई--रह गई दो घड़ी की तफ़रीह, बस। एक की पहुँच तह तक है, दूसरी की स्थूल सतह पर। कहाँ आँगन की तुलसी, कहाँ चमन की रात-रानी! यह कुछ, वह कुछ!

२

चार दिन बाद। सुना, लालासाहब की मसूरी-सैर के प्रोग्राम पर श्रीमती जी ने भी अपनी मुहर दे दी। फिर क्या, यात्रा की घड़ी आज ही बन गई—आधी रात।

उस दिन शाम के झुटपुटे में उनसे भेंट हुई। देखा, चौके के अन्दर से निकली आ रही हैं, पसीने में नहाई हुई जैसे।

"भला इस तपिश में जान दे रही हैं? चलिए मसूरी आप भी···"

"न भई, अपनी चादर ही में पैर रखो···इस हवाखोरी की लत को दूर ही से हाथ जोड़ लें।"

"तो अपने लिए एक न्याय, उनके लिए दूसरा···"

"यह लू और गर्मी जो उनके बस की नहीं। देखो न, तीन रात करवटें बदलते रह गये—नींद से भेंट तक नहीं; इधर हम हैं कि तकिये पर सर आया नहीं कि आँखें लग गईं—लू चले या पत्थर पड़े।"

"मगर यह चौके के अन्दर क्या लिये बैठी हैं आप···बेवक्त की शहनाई···"

"पिश्ते की गिलौरियाँ हैं। लो, एकाध चखकर···"

"तो यह बला भी आपके ही पल्ले आई ? लालासाहब इन गिलौरियों के आशना होते तो ख़ैर..."

वह हँसने लगीं—"जैसे कि हम जानतीं ही नहीं !"

हम चुप ! ठहरकर बोले—"अच्छा होता कि आप यह भी जान लेतीं कि कहाँ की फ़रमाइश है यह..."

वही हँसी का फव्वारा। "ऐलो ! जैसे कि हम जानतीं ही नहीं !"

"यह खूब ! तो आप जान रही हैं, फिर भी जान दिए जा रही हैं इस आँच में ? जाने दीजिए, हद है आपकी यह नरमी..."

"तो हमारा क्या बिगाड़ लेगी वह, बोलो ! ऐसी कितनी आ रही हैं, जा रही हैं—हमें क्या ! हमारा तो कभी कुछ गया नहीं—उन तितलियों का ही चाहे जो जाय..."

"यह क्या कह रही हैं आप !"

"नहीं-नहीं, दो घड़ी उनको उनके कारबारी झंझटों से अलग कर पाती हैं—यह क्या कम एहसान है हम पर ? वह ऐसे मदहोश भी नहीं कि अपने स्वास्थ्य या जेब की पूँजी पर कभी कोई आँच आने पाये। बस, वह बने रहें—खुश रहें..."

तो लालासाहब अपनी पत्नी से कुछ चुराकर नहीं रखते—अपनी आस्तीन तक उलट कर रख देते हैं उनके सामने। और श्रीमती जी हैं कि पेशानी पर एक शिकन तक नहीं !

वाह री पति-प्राणा और वाह री तुम्हारी क्षमा की क्षमता—तुम्हारी सेवा और त्याग की गरिमा ! यह आठों पहर दिए जाना ! अपने लिए भी कुछ लेना तो तुम्हारे हिस्से में आया ही नहीं जैसे। बस, तुम्हारे सर पर सिन्दूर है तो तुम्हारा सब कुछ है भरपूर। हमारी तो दाँतों-तले उँगली आती

है कि दिखाए तो कोई इस नायाब मोती का जोड़ा विलायती हवा-पानी की पौर पर कहीं !

मगर हाँ, कोई दिखाए भी कैसे ? वहाँ तो यह मोती मोती में शुमार नहीं—सीपी है, सीपी ! इस जौहर की कहीं पूछ भी है उधर ?--नारीत्व का निखार तो दूर !

लीजिए, आज ज़माना भी क्या-से-क्या आ गया—क्या जाने ! ऐसी ताबेदारी की जंजीर पर पातिव्रत्य की यह मीनाकारी अब खुली आँखों में धूल झोंकती है—धूल।

लालासाहब की ज़िद--हम भी मसूरी आयें, साथ ठहरें। उनका हुक्म तो हमारे सर-आँखों पर रहा—नेकी और पूछकर ?

तो यह लू और गर्मी क्या आई--हम जैसे उम्मीदवारों की पाँचों उँगलियाँ घी में आईं। बिल्ली के भाग से छींका ही टूट पड़ा जैसे ! लीजिए, हरे-भरे पहाड़ों की सैर आई--क्या दिन, क्या रात,—पीने-पिलाने की छूट आई और नित नई कमर में हाथ दिये आँख से आँख, सीना से सीना मिलाये होटलों के चिकने फ्लोर पर घंटों थिरकते रहने की भी बन आई बेजोड़।

मगर हमारे साथ तो अपनी खुशी-खुशी न थी उन दिनों। जिलाधीश की मर्जी ही सब कुछ थी ! वही अभिभावक (गार्जियन) ठहरे। इस्टेट भी उनकी देख-रेख के अधीन। हाँ, आदमी थे मिलनसार, हमदर्द भी।

बस, सुबह सात बजे साहब की पौर पर अपनी अर्ज़ी लिये हाज़िर !

"अच्छा, तो तुम्हें भी शौक चर्राया ?—Good Luck !"

दो पल रुककर एक अजब आवेश में उबल पड़े—

"क्या बतायें ? ऐसा पता रहता कि महीनों यहाँ आग बरसती है—

आग, तो फिर I. C. S. को तो हम वहीं से हाथ जोड़ लिये रहते—ले बस, लिये रह अपनी विभूतियाँ—हम न उठा पाएँगे तेरा नाज़, न चाहिए तेरी रहमत।"

"आप गर्मियों में मसूरी गये रहते तो यह तड़प आपकी पुलक में बदल गई होती!"

"जी, ऐसा होता तो, ऐसा होता—क्या खूबसूरत बात कही है तुमने! छुट्टी ही नसीब होती तो कुत्ते ने काट खाया था कि 'मेरी' के साथ-साथ मसूरी न उड़ गए होते···"

"तो क्या वह यहाँ नहीं रही···" चौंक पड़े हम।

"जी, कभी की जा चुकी वह···तुम्हें पता नहीं!"

"भला क्या आई और क्या गई! दो दिन भी नहीं ठहरी क्या? यहाँ होती तो ऐसी लू की लपट से भी फूल झड़ते, फूल!"

"भला जान देती इस आग में? उल्टे हमीं को उसका नाज़ उठाना पड़ता आठों पहर। हम तो खैर, कई साल यहाँ के हवा-पानी के थपेड़े खा चुके हैं—वह तो अभी वैसी···जाने दो···कोई वैसी संगी-सहेली भी तो नहीं रही यहाँ।"

"क्यों, क्लब में तो रोज़ शाम के वक्त···"

"अजी, क्लब में तो बस, मिस्टर ही मिस्टर रह गये; विलायती मिसेज़ का काफिला तो पहाड़ों पर जा चुका—कोई कहीं, कोई कहीं।"

"तो कहाँ ठहरी है वह मसूरी में?···"

"उसी मशहूर होटल में···क्या नाम···एक हवाबार कमरा ले रखा है···अब तनख़ाह की एक गाढ़ी रक़म जाने कितने महीने···जाने दो, तुम क्या जानो, मसूरी की यह सैर क्या भार है हम-जैसे नौकरीपेशों पर!

तुम्हें तो ज़मीन्दारी है—पसीने की रोटी खानी होती तो...”

देखा, उनका चेहरा गिर गया। तो रह गये मिस्टर सारे अपनी रोटियाँ जुगाते इस आग उगलती धरती पर; उनकी 'डियर डार्लिंग' की अवली तो क्या-क्या न रंगरेलियाँ लिये थिरक रही हैं पहाड़ों की बर्फ़ीली चोटियों पर! क्या खूब...लहू-पसीना एक कर कमायें मियाँ—उधर मज़े उड़ायें बीवियाँ! अपना-अपना भाग, अपना-अपना भोग!

हमने दबी जबान से छेड़ा—“तो क्या माँ-बाप की ख़ातिर घर पर भी कुछ भेजना ठहरा...?”

“नहीं तो, ऐसी कोई बात नहीं। शादी-बाद तो अपनी दुनिया ही अलग हो गई जैसे।...अच्छा भई, भले याद आई...'मेरी' की फ़रमाइशी चीजें भी साथ लिये जाना—भूलना नहीं...कलकत्ते ऑर्डर दे रखा है—दो-चार दिन की देर तो कोई देर नहीं?”

“कोई बात नहीं, लिये जाएँगे हम।”

साहब उठ खड़े हुए—“तो तुम अकेले ही जा रहे हो क्या?”

“जी, और क्या...”

“खर्चे की रक़म दुगुनी किये देते हैं—यह भी कोई बात है—अपनी बहू को भी साथ...”

“वह कैसे कहाँ जायगी भला! पहले-पहल ससुराल आई है—बेग़ैर माँ की मर्ज़ी...”

“भला माँ से वास्ता?”

“अच्छा कह रहे हैं आप! सारी दुनिया एक ओर, सास की सेवा एक ओर। घर के अन्दर भी तो बेग़ैर उनकी मर्ज़ी...जाने दीजिए...आप नहीं जानते...यों साथ लिये पहाड़ पर उड़ जाना—क्या कहेगा कोई...”

"मगर 'हनीमून' तो तुम्हारे यहाँ भी······" साहब मुस्कुरा उठे।

"है एक अपने ढंग की, दो घड़ी की चाँदनी। समाज का ताना-बाना जो कहीं कुछ है, कहीं कुछ······"

"गोली मारो ऐसे ताने-बाने को! मसूरी जाकर एक बड़ा-सा कमरा तुम ले रखना—हो सकता है, तुम्हारी बहू वहीं तुम्हें······"

चौंक पड़े हम—"सो कैसे?"

"तुम्हारी माँ को हम खत लिखे देते हैं—ऐसा भी भला कहीं···"

"मगर अकेली तो वह आने से रहीं—हमारे भाई भी तो घर पर नहीं।"

"अच्छा तमाशा है यह! एक हमारी 'मेरी' है कि कहाँ से कहाँ अनजान देश, अनजान जबान, हजारों मील अपने पैरों पर चली आई—एक तुम्हारी यह बड़े घराने की बहू······"

"आप नहीं मानते, न मानिये। मसूरी तो मसूरी···यहाँ भी तो वह वेग़ैर···"

"तो तुम उसे अपने पैरों पर खड़े न होने दोगे—ऐसा? कहाँ स्वच्छन्दता चाहिये, कहाँ यह पर्दा और पहरा! क्या जाने उसे अबला ही बनाये रखने में तुम्हारी अपनी···"

हम रुक कर बोले—"तह की बात तो यह है कि हमारे यहाँ वर का पल्ला ऊँचा है, आप-यहाँ वधू का···"

"दुत्! ऐसी भी क्या बात है—"

"ऐसे आप जो कहिये, मगर वह 'हाँ' न कहे तो कहाँ के रहे आप? अपनी हथेली पर दिल लिये उसके चरणों पर सर फोड़ा कीजिये। जभी तो आप-यहाँ आपस का प्रेम पहले है, विवाह का रस्म पीछे···बहुत पीछे—

उसी की मर्ज़ी पर। कहाँ हमारे यहाँ विवाह के पहले प्यार का इज़हार तो दूर—आँखें चार होने की भी वैसी संभावना नहीं।"

"तो क्या तुम्हारे यहाँ उसकी मर्ज़ी की कोई क़ीमत नहीं?"

"जाने दीजिए, यहाँ तो उसे पता तक नहीं कि किस चादर के खूँट वह जा रही है बँधने···यह भार तो माँ-बाप पर है और उनकी निगाह पर डीलडौल और सूरत ही नहीं, सारी बातों की छानबीन ठहरी।"

"जो हो, यह धाँधली तो अब चलने से रही···"

"मगर पच्छिम को आँख मूँद अपनाना तो एक ओर पाना है तो दूसरी ओर खोना भी···"

"सो क्या···"

"लीजिए, आज विवाह—कल तलाक़। विवाह एक कोरा कंट्राक्ट रह गया—कहाँ हमारे यहाँ वह आत्मा से आत्मा का मिलन-सूत्र···"

आप ज़रा हँसकर होंठ सिकोड़ बैठे—"Be practical young man—यह सुनहला आदर्श तो आसमान का फूल है—फूल। बस, ज़माना देखो, ज़माना··"

चलते-चलाते कुछ दिन गुजर ही गये। इस बीच मसूरी से फ़रमाइशों की झड़ी आती रही। श्रीमती जी ने तो न दिन को दिन जाना और न रात को रात। उसी तपिश में चूल्हे की आँच में पकती रहीं—पकाती रहीं गिलौरियाँ और जाने क्या-क्या। उधर जिलाधीश की परीशानियाँ भी देखते ही बनीं जब वह खुद दौड़ आये हमारी पौर पर कि सिपिया और दशहरी आम की तलबी आई है मसूरी से। अब कैसे क्या···

हमने कहा कि आप बेफ़िक्र रहें, एक-से-एक हम चुन कर साथ रख लेंगे—कोई बात नहीं। हाँ, और जो कुछ फ़रमाइशी चीजें हों उन्हें पैक

कर ट्रेन के वक्त कल भेज दें।

लीजिए, पहुँच गए मसूरी की पौर पर। कहाँ से कहाँ उठ आए भला! कहाँ वह कड़ाके की धूप और लू की लपट—कहाँ यह वसन्त का दिलपसन्द मौसम!

मगर भई वाह! यह मसूरी की 'चेंज' भी क्या चेंज है निराली! एक दिन वह था कि पहाड़ों की ऊँचाइयों पर आते रहे एकान्त साधना का पल्ला थाम अपनी वासना के संस्कार से ऊँचे उठने, एक आज है कि यह पहाड़ की चोटी भी हमारी वासना के अभिसार की दूती हो गई है जैसे। रूप, रस, गंध, स्वर और स्पर्श—सभी की छूट है निरन्तर। बस, अपनी जेब भरी हो और ज़बान मँजी-निखरी तो फिर क्या ऐसी चकल्लस की चाह है कि यहाँ खिल-खुल न पाये! हाँ, सलीक़ा चाहिये—एक चलनसार हीला भी!

यहाँ स्वास्थ्य का ही स्वराज्य नहीं, स्वाच्छन्द्य का भी साम्राज्य है। यही आज़ादी तो मसूरी के हवा-पानी की जान ठहरी—मगर हसरत तो है अपनी आज़ादी के उस अभिसार पर, जो आँख का पानी ढाल अपने शौक़ की ही सुने रात-दिन—अपने विवेक की नहीं। उस फिसलन के लिये मसूरी ज़िम्मेवार नहीं—ज़िम्मेवार हैं हम।

कैसे-कैसे दिलचले हैं यहाँ! एक वह हैं कि खुल्लमखुल्ला ऐलान किये जाते हैं कि बोतलों से काग ही न उड़े तो फिर मसूरी की रात की बिसात क्या—किसी डिनर-डान्स का कमाल क्या, और एक हमारे लालासाहब हैं कि कभी किसी शौक से नाक-भौं सिकोड़ खिंचे नहीं तो उसके हाथों बिके भी नहीं। दिन-भर अपने काम से काम—वही कारबार के लटके यहाँ

भी—हाँ, जब शाम आई तो फिर जी की रुझान आई, होठों पर जान आई, वह दिनवाली दुनिया ही बदल गई जैसे।

पास-पड़ोस के एक कमरे में वह भी है—वही घाँघरावाली हिन्दुस्तानी मेम। दिनभर तो उसकी परछाईं भी नजर आने से रही—बस, चार बजे की चाय पर टेनिस की रैकेट लिये बाहर आई और फिर धड़ल्ले से चल पड़ा यह-वह का अटूट ताँता आधी रात तक।

अजीब है आपकी सजधज। मोती तो कूट-कूट कर भरे हैं आपकी आँखों में। विलायती मसालों की रंगसाजी चाहे जो हो, अक्सर कंघी-चोटी भी देखी, झिलमिल रेशमी साड़ी भी।

तो क्या वह न आती तो लालासाहब के इस चेंज में जिन्दगी न आती—यह चर्चा तो हमारी अनधिकार चेष्टा होगी। उसके खर्च का कोई या क्या हिस्सा लालासाहब ने अपने जिम्मे ले रखा था—हम क्या कहें, कैसे कहें? हाँ, इसमें पूछना ही क्या कि आपकी गहरी छनती रही उससे—खेलती-खाती और अक्सर फॉक्सट्रॉट पर थिरकती भी साथ-साथ, और जब इस मेलजोल के सिलसिले पर श्रीमती जी तक की जानकारी की मुहर है तो फिर उँगली उठानेवाले हम कौन? मगर यह नहीं कि एक वही हो अकेली—और भी दो-चार ऐसी छँटी हुई हैं जो तितलियों की तरह उड़कर आती हैं—ब्रिज या टेनिस रहा तो, डिनर-डान्स रहा तो।

मिसेज जॉनसन तो होटल के अन्दर दूसरे छोर पर हैं। उनका वह संगी भी नजर आया, बराबर का एक अलग कमरा लिये—वही जो ट्रेन में उस दिन साथ रहा। यहाँ भी—क्या होटल के अन्दर क्या बाहर—उनका नाज उठाने को, जब देखो, वह दसों नख जोड़े तैयार है जैसे। फिर भी हम उसे एक अभिन्न सहचर कैसे कहें जब मिसेज जॉनसन की अदायें ही

ऐसी सतरंगी हैं कि कितने गोरे अफसर आँखें उड़ेल मड़राते रहते इर्दगिर्द, डिनर-डान्स में कंधे-से-कंधे मिलाये थिरकते भी। जिधर देख लिया उधर ही लगे सब देखने, जहाँ बैठ गईं वहीं नज़रों की चाँदनी बिखर गई जैसे।

तो लीजिए, यह ठहरी एक विलायती बिरहिनी पत्नी की झाँकी। क्या कहने वियोग के इस संयोग के—अभिशाप के इस वरदान के। जब देखो, फड़क रही है बोटी-बोटी—नस-नस से छलक रही है ज़िन्दगी जैसे। और, एक हम हैं कि—

'ढरि गइले नीर, ढरकि गइले कजरा,
हरि गइले नींद, दरकि गइले जियरा,
—पिया घर नाहीं !'

हो सकता है, वैसी रसमस्ती की मौज में डिग ही गए हों पैर कभी, पर बग़ैर देखे-सुने, अपनी कल्पना की छलाँग पर, किसी के दामन पर छींटे उछाल बैठना तो 'छोटा मुँह बड़ी बात' ठहरा। आखिर यह डिनर-डान्स का स्फुरण—यह खुल्लमखुल्ला आलिंगन और चुम्बन तो विलायती तौर-तमीज़, उनकी मिली-जुली हँसी-खुशी का एक अंग ठहरा। यह चुम्बन तो वह चुम्बन नहीं, वह रससिञ्चन नहीं—यह आलिंगन तो वह आलिंगन, वह पुलक-प्लावन नहीं। यहाँ तक तो हर कोई भी वैसा चरफर आ सकता है—आता भी है। हाँ, यहाँ···यहीं तक। आगे बढ़ा तो वह कहीं का न रहा—उतर गया आदमी के लिबास से जानवर की खाल में।

तो लीजिए, जो कुछ हमने वहाँ देखा या पाया, वह तो मसूरी के हवा-पानी में रोज़मर्रे का तमाशा ठहरा—कोई बात नहीं। भेद तो बस, इसी क़दर है कि अपने दल में पति की छूट देखी, गोरों के दल में पत्नी की अधिकतर।

और, दाँतों-तले उँगली तो हमारी तब आई, जब कुछ दिन बाद जिलाधीश को अपनी बीवी के कमरे की पौर पर, बड़े अदब से किवाड़ पर दस्तक देते देखा !

किसी सरकारी काम के हीले एकाध दिन के लिये वह यहाँ आ पाये। किसी को खबर तक नहीं। फाटक पर आँखें चार होते ही हम उनको साथ लिये आये वह कमरा दिखा देने।

किवाड़ के पल्ले लगे हैं—बंदी नहीं। फिर भी अन्दर कदम दे नहीं पाते। खड़े-खड़े दिये जा रहे हैं किवाड़ पर दस्तक। कभी मुलायम, कभी तेज।

तो यह पत्नी की अमलदारी की झाँकी ठहरी या रीति-नीति की बानगी—हम तो दंग हैं—यह माजरा क्या है ! किसी ग़ैर की पौर नहीं—फिर भी ऐसा संकोच, ऐसा तकल्लुफ़ !

तभी आपने जाने क्या कुछ आवाज दी, खुल गये पल्ले, 'डियर डार्लिंग' की गूँज देती वह आ गई बेतहाशा और बस, लीजिए, खड़े-खड़े बरामदे में ही वहीं सीना पर सीना आया, होंठों पर होंठ !

अपनी-अपनी देन

वैसे कहने को तो हमारी वही दुनिया है—वही जमीन, वही आसमान भी, फिर भी यह सब कुछ क्या वही—वैसी ही है, आज भी ? है वह आसमान, जिसके साये में पलकर हम जवान हुए, वह जमीन, जिसकी पौर पर खड़े हो हमने जमाने की रंगत देखी ?

अरे भई, वह आसमान का तान-तेवर तो कभी का उतर चुका—कुछ का कुछ हो गया आज, और वह जमीन तो पाँव-तले से सरकती जा रही है तिल-तिल।

आज तो लगता है, हमारी यह नई दुनिया है—नई रोशनी, नई हवा, नई दिशा—नई प्रेरणा भी। वह कट्टरता की सधी-बदी हवा होती तो हम पैरों में पंख बाँध दुनिया का कोना-कोना छान पाते ?

लीजिए, यह सायन्स का चमत्कार है कि क्या से क्या हो गया आज, कहाँ से कहाँ उठ आये हम ! यही नहीं, हमारे अन्दर का संस्कार तक इस युग की हवा का रुख देख बदलता जा रहा है निरन्तर अपनी नाव का पाल।

एक दिन वह था कि कट्टर रूढ़ियों की आलमगीरी थी हर तरफ, अपनी पाँत-पंगत के बाहर कहीं खाना-पीना भी एक मुश्किल का सामना था जैसे।

विदेश के लिये कदम उठाना तो बागी में शुमार होना था उन दिनों। सनातन समाज उसकी पीठ ठोक गले में हार देना तो दूर, वस गले में हाथ दे बैठता बेतहाशा अपने मान के गुमान में। क्या-क्या न पैंतरे चलते उस परिवार को ही पाँत से निकाल फेंकने को।

मगर आते-आते जब वह दिन आया कि अनाचार का वह कलंक सफल प्रयास का तिलक बनकर चमका तो परंपरा रह गई धर्मान्धों की पौर पर माथा फोड़ती—उतर गया उसके मुँह का पानी।

तो निरन्तर गति ही इस जीवन की परिणति ठहरी। जो भी पद्धति हमारी प्रगति की बेड़ी हुई, युग की माँग का पल्ला थाम मुड़ नहीं पाती—आँख मूँद तनी की तनी रहती है अपनी अंकड़ में, वह तो टूट कर रहेगी चूर-चूर—किसी धर्म की मुहर ही उसके सर पर क्यों न हो।

हमारे यहाँ पहला मोर्चा तो डाक्टर सिन्हा ने लिया—वह भी अकेला, कोई सहारा नहीं, कहीं से प्रेरणा नहीं। बस, अपनी लगन, अपनी धुन, बला से साधन बरायनाम। मुस्लिम समाज में यह सेहरा सर अली के सर पर जो आया हो पर वहाँ तो न जेहाद का जोर था और न नंगी तलवार लिये समाज ही रास्ते पर खड़ा था बेलौस।

'हमारे समाज के संरक्षकों को पता तो तब चला जब वह बागी समुद्री जहाज से, मूछों पर ताव देता हुआ निकल भागा—उनकी पहुँच से दूर, बहुत दूर। जब और कुछ न बना तो दिल का बुखार उतार बैठे उनके परिवार के सर पर।'

क्यों साहब, आपने अपने लड़के को विलायत जाने दिया—ऐसा ? किसी से पूछा तक नहीं ?

इसमें पूछना क्या है भाई ?

आखिर इसका अंजाम, कुछ सोचा है आपने ?

कोई सैर करने थोड़े ही गया। अपनी रोटी-दाल का सवाल न होता⋯

अच्छा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा! आने दीजिए लौट कर⋯⋯

मगर लौट आकर गुरु-पुरोहितों के चरणों पर सर रख प्रायश्चित्त का अनुशीलन तो दूर, वह उठा जब उन्हीं को आटे-दाल का भाव जताने, आड़े हाथों जात-पाँत की धज्जियाँ उड़ाने, उस संकीर्ण सनातन की सारी क़िले-बन्दी की ईंट से ईंट बजाने, तो कुछ न पूछिये, पुराने लकीर के कुलपतियों को साँप सूँघ गया जैसे—सिट्टी-पिट्टी गुम! जो दो-चार अड़ियल ताल ठोक लोहा लेने को उठे भी, वह पीठ की धूल झाड़ते रह गये। बस, दस-पाँच ऐसे ही वैसे अपनी पौर पर टर-टर लगाया किये, पर किसी के कानों पर जूँ न रेंगी।

तो ऐसे कितने दुर्जेय की विजय का श्रेय सिन्हा साहब के ही हिस्से आया बराबर। सारे बिहार में एक उसी पौर पर ऐसे खुले पट थे कि आने-जाने-वालों का ताँता बँधा रहता—लीजिये, जो आये, जब आये, सर-आँखों पर आयें, साथ खायें-पीयें भी—वह कौन है, क्या है, कहाँ का है—कोई बात नहीं। हाँ, वह आदमी के लेबास में न आया तो फिर इस पौर पर उसकी न पूछ होगी न पैठ।

और खाने-खिलाने की वह सतरंगी, वह रसवंती तैयारी कि कौन था जिसके मुँह में पानी न आया हो—बस, आँखें जुड़ा गईं, रसना अघा गई। फाउल की बिरियानी वह कि किस गले की घंटी न टूटी और शीशे की परी वह कि किस तौबे की धज्जियाँ न उड़ गईं!

यह रोजमर्रे की खुली दावत—खुला दिल और खुली नजर का निराला

करिश्मा तो सिन्हा साहब के साथ ही आया और साथ ही गया। हाय! क्या दिन थे वह! क्या मेल-जोल, आलाप-संलाप और कैसे-कैसे विचारों के विनिमय!

लीजिए क्या दिन आ गये आज! बिहार क्या वही बिहार है सरापा? आयगी वैसी बेतकल्लुफी की बहार फिर—वह शील, वह तमीज, वह कल्चर की बौछार?

जब तक सिन्हा साहब थे, बिहार का वातावरण क्या था और अब उनके बाद क्या रह गया वह, क्या से क्या—कोई क्या कहे, कैसे कहे? बस, यह दिल है जो उमड़ा आता है आज भी।

अब तो एक कहानी रह गई चंद जानकारों की मजलिस में—एक तस्वीर फिर रही है उनकी भींगती पलकों के साये में। काश किसी की लेखनी उमड़ कर उस कहानी में जान डाल पाती, उस तस्वीर की तस्वीर खींच नई पीढ़ी की आँखें खोल पाती!

तो यह विलायती हवा-पानी की तरफदारी चाहे किसी को कुछ लगी हो, उनकी तो यह धुन बराबर बनी रही कि जो भी उठती कोंपल जरा वैसा होनहार नजर आये, उसे जैसे भी हो, पीठ ठोक समुन्दरपार पहुँचा दो ताकि उसके निखार में चार चाँद लग कर रहे। और लीजिये—जो भी उनकी प्रेरणा का पासपोर्ट पाकर विदेश गया वह लौट आकर अपना एक रंग जमा बैठा अपनी जीविका की पौर पर। फिर क्या? खुल गया रास्ता जैसे। कहाँ एक दिन विलायत जाना अपनी मान-मर्यादा पर आँच आने की आशङ्का था—कहाँ आज धन-मान दोनों की कुञ्जी उसकी मुट्ठी में आ गई बेजोड़।

और क्या पटना क्या इलाहाबाद—सिन्हा साहब की दोनों ही जगह बराबर चली—दोनों हाथ लड्डू जैसे।

२

याद नहीं किस विलायती अंचल से छात्रों की एक पार्टी आई थी हमारे यहाँ देखने-सुनने और हमारी निराली चीजें जानने भी। इस पार्टी में युवक तो थे ही, युवतियाँ भी थीं दो-चार। दल के लीडर कोई प्रोफेसर रहे— भारतीय दर्शन के अनन्य उपासक।

अब यह कहीं हो सकता है कि बिहार में आकर बिहार के नये सिरजन-हार की पौर पर नहीं आते और कैसे सम्भव था कि आने पर दो प्याली चाय पर ही सिन्हा साहब का शिष्टाचार अपना हाथ सिकोड़ लेता! लीजिए, उनको दावत दी गई। हम तो उन दिनों उनके साथ ही ठहरे थे, इस चहल-पहल में शामिल भी रहे। वैसे तो हर रात ही वहाँ दावत की रात होती, पर आज की रात की तो बात ही क्या!

सिन्हा साहब ने चंद ऐसे युवकों को भी बुला लिया जिन्हें वे चाहते रहे किसी हीले विलायत भेजना। अभी वे वैसे तैयार न हो पाते रहे कि चाहे कुछ हो, रास्ते के रोड़े तो अपनी ठोकर से उड़ा देंगे दो दिन में। कहीं माँ-बाप अपनी आँखों के नूर को हजारों मील दूर करने को तैयार नहीं— अपनी माया-ममता की देन, क्या-हो-क्या नहीं की आशङ्का; कहीं हाथ की तंगी की आड़ में वही दकियानूसी कट्टरता के बुझते हुए दीपक की आखिरी लौ।

जो हो, अभी सिन्हा साहब का जादू उन पर पूरा असर न कर पाया था। बस वही—साफ़ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं!

सिन्हा साहब ने देखा कि इस मेल-जोल से वह रही-सही धुकधुकी भी दूर हो जायगी।

विलायती छात्रों की टोली ऐसी चरफ़र नज़र आई कि क्या कहने हमारी एक-एक चीज को जानने-पहिचानने की उनकी लगन के! हिलमिल गये हमारे नवयुवकों से— बड़ी बेतकल्लुफी से लगीं गप्पें लड़ने—साथ-साथ लिये चलने की फरमाइशें भी।

लीजिये, देर-सवेर सब आ गये—मगर लुत्फ़ तो तब आया जब उनमें एक के पिता बूढ़े रायबहादुर भी बेबुलाये ही पहुँच आये।

सिन्हा साहब ने उठकर स्वागत किया। उनको लिये हमारी ओर मुड़ आये। बोले—"बड़े वक्त पर आये। आइये, देखिये, क्या जिन्दगी की लहर है इन विलायती छात्रों की नस-नस में, इसी सिन में अपने पैरों पर खड़े होने की धुन भी। कुछ तो अपनी ही मिहनत-मजूरी से कालिज की पढ़ाई भी जुगाये चल रहे हैं साथ-साथ। और यह देखिये, दो-चार युवतियाँ भी आई हैं साथ।"

हैं!…वे भी…साथ-साथ?—रायबहादुर की आँखें टँग गईं—"कहाँ रहीं वे?"

"गई हैं स्टेशन पर अपनी एक सहेली को उतारने…वह विचारी साथ न आ सकी—दूसरी स्टीमर से आई है।"

"तो वे भी डिनर पर आ रही हैं आज?"

"वक्त जो नहीं। आज की माफ़ी ले रखी है। कल आ रही हैं—इसी वक्त।"

"तो वह अकेली ही आई ? कोई साथ नहीं ?"

"और क्या ! माफ़ कीजिये, एक आप हैं कि अपने साहबजादे को अकेले जाने देने में जाने क्या..."

"नहीं, सो बात नहीं। वहाँ जाना तो अपना बहुत-कुछ खोना ठहरा—अपना कुल, धर्म...जो कुछ सम्बल..."

"और पाना कुछ नहीं ?"

"क्या पाना है—कहिये ! पीने की लत आई, कहीं बीफ की भी चाट लगी तो लीजिये, गये हम। कहाँ गौ हमारी माता...।"

"ओहो ! बड़े आये हैं आप गो-सेवक—जी ! गौ तो आपकी माता ठहरी, मगर कसूर माफ़, गो-सेवा की दीक्षा लेनी हो तो लंदन जाइये, लन्दन ! यहाँ गौमाता का नाम तो खूब है, पर गोसेवा का अंजाम ?... पूछिये अपने ईमान से। हमने तो विलायत में कोई ऐसी गौ न देखी जिसकी कहीं हड्डी नजर आये और न ऐसा दूध पाया जिसमें पानी मिला हो। कामधेनु के दर्शन तो वहीं जाकर पायेंगे आप।"

रायबहादुर ने मुँह लटका लिया। दो पल बाद फिर छेड़ बैठे—"अच्छा, इन युवतियों के माँ-बाप को तो पता होगा, कैसे कहाँ—"

"इसमें पूछना ही क्या !..."

"मगर वे कैसे भला..."

"कैसे क्या ? जैसे लड़के, वैसी लड़कियाँ। उनके अन्दर भी जानने-सुनने की वही जिज्ञासा है, वही हौसला।"

आप जरा रुक कर एक धीमे स्वर में बोले—"ऐसे जो कहिये, मगर जवान छोकरों के साथ यों हिलमिल कर देश-विदेश घूमते फिरना कुछ आपस का कनकौआ लड़ाना नहीं।"

"तो क्या हुआ ? गया क्या आखिर ?"

"गया क्या ? बाकी ही क्या रहा ? आग की लौ से खेलते जाना और अपनी उँगली पर एक आँच तक न आये—ऐसी अनहोनी ?"

"जी, आये तो आये, कुछ परवाह नहीं। कोई, ऐसी मुश्किल नहीं जो हल न हो। मगर इस डर से अपनी जिन्दगी—अपनी स्फूर्ति से हाथ सिकोड़ बैठना तो जीते-जी मौत है, मौत।"

"भला ऐसी आज़ादी और जिम्मेवारी—आखिर सिन का तक़ाजा भी तो कोई चीज़ है।"

"बेशक़, मगर अपने हवा-पानी का असर भी तो बड़ी चीज़ है।"

सिन्हा साहब ने हँसते हुए प्रोफेसर की ओर मुड़कर कहा—"लीजिये, सुनिये, क्या कह रहे हैं हमारे रायबहादुर। भला लड़कियों को भी ऐसी छूट दी जाती है कहीं ?"

प्रोफेसर साहब उठकर नज़दीक आ गये। दो पल रुककर बोले—"कोई बात नहीं—अपनी-अपनी नज़र समझिये। आपके यहाँ तो नारी की बस एक गति है—पति की पौर। एक घाट, एक जीवन-पथ—कोई और दिशा नहीं। उसी को लिये जीना है, उसी को लिये मरना।"

सिन्हा साहब टोक बैठे—"यह न कहिये, वह हवा अब पलट रही है, देर नहीं।"

"क्या सच ? हो सकता है, एकाध कहीं अपने पैरों पर खड़ी हो पाई हैं; मगर अभी आज़ादी तो आते-आते आयेगी न ? हम तो पाते हैं कि उनकी बेबसी आज भी बनी की बनी है।...हमारे यहाँ व्याह तो नारी-जीवन का अनिवार्य अंग नहीं और न सती के आदर्श का ही कोई अनाव-

श्यक महत्त्व ठहरा। उसकी जीवन-तरी तो अपना पाल उड़ाए चाहे जिस समुन्दर में हिलोरें ले।"

"जी, जान रहा हूँ कि आपके यहाँ शील और शर्म का कोई मोल नहीं--बस 'Face and figure, the sole feature!" रायबहादुर उबल पड़े--"आदर्श तो है मिस इङ्गलैंड और मिस यूरप। उसी का महत्त्व है निराला। और लीजिये, कहीं मिस यूनिवर्स भी हो गई तो आसमान से सितारे लोढ़ लाई जैसे। हाँ, यह मंज़िल हाथ न आई तो कम-से-कम फिल्म-स्टार तो..."

"घबराइये नहीं, वह फिल्मी सितारा, वह मिस इण्डिया यहाँ भी आना चाहती है—देर-सबेर।"

रायबहादुर चौंक उठे, कुर्सी छोड़ खड़े हो गये। "भला ऐसा भी कहीं हो सकता है? जिस हाल में हम हैं, खुश हैं।"

"जी, वह दिन दूर नहीं कि आपके यहाँ भी वह घूँघट और बुर्क़ा को ताक़ पर रख आज की दुनिया की दौड़ में हाथ बटा कर रहेगी। रह जायँगे आप उछालते सीता-सावित्री की तस्वीरें!...Oh! you fellows put too much premium on chastity!"

सिन्हा साहब ने देखा कि बात बढ़ी तो फिर सरगर्मी आने में देर न होगी। आप बीच ही में कूद पड़े जैसे। हँस कर बोले—"भाई, हमारा जाता ही क्या है! अपनी संस्कृति का पल्ला थाम वह भवन से निकल कर भुवन में आती है तो वह कुछ पाती ही है, खोती नहीं।"

सिन्हा साहब उनको साथ लिये दूसरी ओर मुड़ गये। युवकों की गिरोह भी उधर ही रह गई। खानसामे को ह्विस्की लाने का इशारा भी कर दिया। रायबहादुर तो अलग चुप बैठ गये—खोए-से। पाकिट से पान का डब्बा

निकाल लगे पान और जर्दा खाने, बीड़े पर बीड़े। होठ रंग गये लाल, आने लगीं हिचकियाँ। मुड़ कर बाईं ओर सीढ़ियों के नीचे पिक फेंक बैठे।

लीजिये, नये आये वे गोरे एक टक देख रहे हैं कि यह क्या मुँह चलाये जा रहे हैं ऐसे-ऐसे। यह होठों पर लाल पालिश···नहीं-नहीं, मुँह से लाल-लाल झाग यह क्या है—लहू का कुल्ला है क्या ?

इधर आप देख रहे हैं कि बोतल आई, ट्रे पर सजी-सजाई प्यालियाँ भी आईं, लगीं ह्विस्की की चुस्कियाँ चलने, और यह लो, प्रोफेसर के सामने ही उनके छात्र भी ढाले जा रहे हैं साथ-साथ—छोटा पेग ही सही। और सब तो सब, धुआँधार सिगरेट के कश भी लिये जा रहे हैं बेलौस। बड़े-बड़ों का कोई लिहाज नहीं। शराब और सिगार दोनों···

आप से रहा नहीं गया। धीरे-से उठ कर पूछ बैठे हमसे—"भला यह मास्टर के सामने ही—कोई लिहाज नहीं !"

सिन्हा साहब मुड़कर बोले—"छोड़िये भी, यह उनकी अपनी तमीज़ है। बाप-बेटे तो खाते-पीते हैं साथ-साथ। कोई बात नहीं।"

"फिर ऐसे हवा-पानी में आप चाह रहे हैं मुन्नू को भेजना ? लौट कर लगा हमारे ही सामने सिगार उड़ाने तो···"

"जी, उसी हवा-पानी से हम भी आये हैं। सिगार या सिगरेट छूते तक नहीं—और गुस्ताखी माफ़, आपको जैसे उनकी ये बातें बेढंगी दीख रही हैं वैसे ही उन्हें भी खल रहा है आपका यह मुँह चलाना, होंठ रँगे जाना और उठ-उठ कर पिक फेंकना···विलायत जाकर तो कोई ऐसा करे ! वह थू-थू होकर रहेगी कि फिर वह आँखें न उठा पायेगा दस के सामने।"

"सच ? ऐसा ?"

"जी, सफाई तो पोर-पोर में बसी है उनकी। रोज़मर्रे की ज़िन्दगी

ठहरी। रद्दी कागज का एक टुकड़ा भी कहीं देखने को न मिलेगा—जूठ-काँठ तो दूर। गरीबों के घर भी जैसी सफाई है वैसी यहाँ राजाओं के महलों तक नसीब नहीं।"

रायबहादुर गुम। झेंप गए जैसे। "हाँ साहब, हमें भी कुछ ऐसा लगा, मगर हिचकियाँ जो उठ आईं—"

"कोई बात नहीं—हम उन्हें समझा देंगे। आप डिनर में शामिल हो रहे हैं न?"

"यह क्या कह रहे हैं आप, जैसे कि आप जानते ही नहीं!"

रायबहादुर उठ खड़े हुए। उधर डिनर की घंटी बोली। चल पड़े हम डाइनिङ्ग रूम की ओर।

दो मेज रहीं आमने-सामने। बड़ी मेज के इर्द-गिर्द कुर्सियों पर विलायती युवकों का दल आया। साथ-साथ बिहार के कुछ ऊँचे अफसर और बैरिस्टर। पटना कॉलेज के चंद होनहार छात्र भी साथ रहे। दूसरी मेज के एक सिरे पर सिन्हा साहब आये। उनकी दाहिने ओर वह विलायती प्रोफेसर साहब। दूसरे सिरे पर हम रहे। दायें-बायें वे चार चुने हुए युवक जिनके सामने विलायत-यात्रा का प्रश्न पेश था।

सिन्हा साहब बैठते ही उन्हीं की ओर मुड़कर बोले—"देख लिया न, कैसे चरफर हैं ये गोरे! तो समझे लाला, वे दिन गये कि रईसों के लड़के घर बैठे कबूतर उड़ाया करते। इनको देखो—उड़ती चिड़ियों के भी पर गिन लें बैठे बिठाए!"

सभी हँस पड़े—यह एक ही कही आपने!

"तो कहा न, लंदन जाकर तुम पाओगे ही, कुछ खोओगे नहीं। हाँ, जो कुछ खो जाने का डर है वह तो हर हालत में जाना है—जा भी रहा

है। जमाना जो उससे फिर गया है आज। और वह खोना नहीं--अपना पता पाना ठहरा। यह जात-पाँत तो तुम्हारी निधि नहीं, तुम्हारी परिधि ठहरी। उसकी क्षति तो क्षति नहीं, तुम्हारी समृद्धि ही होगी।"

"जी, वह छूत-भूत तो अब सर से उतर चला। नई पीढ़ी तो उस फेर में आने से रही। मगर हाँ, वहाँ जाकर हम वैसा पायेंगे क्या, इसपर आप थोड़ा प्रकाश दे पाते तो…"

"देखो न, आज हमने रात के खाने पर बुलाया तुमको, वक्त भी जता दिया खत में, मगर तुम में से कितने ठीक समय पर आये? दो-चार के लिये तो जाने कितनी देर घड़ी देखा की हमने। अब इनको देखो—यह जो तुम्हारे सामने ह्विस्की की चुस्कियाँ लेते रहे, ऐन वक्त पर पहुँच आये। आगे-न-पीछे। यही वक्त की पाबंदी तो विलायती तौर-तमीज़ की जान ठहरी—समझे?"

प्रोफेसर साहब छेड़ बैठे--"मगर यह तो देख रहे हैं कि कमरे में आये नहीं कि टूट पड़े बोतल पर। क्या प्रेरणा पायेंगे भला…?"

सिन्हा साहब हँसकर बोले--"लो, यही सही। इनका खाना-पीना भी हमको जानते रहना चाहिये।"

प्रोफेसर साहब फिर मुस्कुराते हुए कूद पड़े—"न भाई, यह पीने-पिलाने की लत को तो दूर से ही प्रणाम कर लो। तुम्हारे मान की नहीं।"

"जी, यहाँ के हवा-पानी में यह आग का पानी कोई मानी नहीं रखता। अँग्रेज तो पीते हैं चूँकि वहाँ की जैसी हड्डियाँ हिला देने वाली सर्द हवा में यह उन्हें गर्म रखता है--आराम देता है। उन्हें तो आठो पहर गर्मी की तलाश है—कहाँ हमारी तलाश ठंढ ठहरी। जभी तो वहाँ गर्म होना अच्छे मानी में आता है। जानते हो न, warm heart या

warm temperament को गर्म दिल या गर्म मिजाज कहना तो अर्थ का अनर्थ हो गया। हाँ, वहाँ की ज़बान में cold होना हमारे यहाँ का गर्म होना एक ही भावना का प्रतीक है जैसे। आख़िर हवा-पानी का असर तो हमारे जीवन के तमाम पहलुओं पर ठहरा—कुछ ज़बान पर ही नहीं। हम तो चाहते हैं कि--

'साक़ी भी हो चमन भी हो, ठंढी हवा भी हो,
टूटे जो आज तोबा सो ऐ दिल, मज़ा भी हो!'

—तो हमारी हँसी-ख़ुशी के लिये ठंढी हवा भी बराबर चाहिये। है न! उनके लिये नहीं--उनकी शायरी में तो ठंढी हवा की तरफ़दारी आने से रही।"

प्रोफेसर साहब ख़ुश हो रहे। बोले--"यह तो आपने हमारा पानी रख लिया—शुक्रिया..."

सिन्हा साहब कहते चले—"तो समझे, वहाँ पीना मना नहीं—पीकर टर्र होना मना है। शराब बुरी नहीं--बुरी है शराब की चाट--नशे का नशा। जो नशे में बह गया, वह गया, डूब गया चुल्लू-भर पानी में खड़े-खड़े।"

"मगर पीने की लत आई तो फिर अपनी चादर में पैर रख पायेगा कोई?"--छेड़ बैठे हम।

"भई, वहाँ पीने की छूट है तो पैमाने की रोक भी है बराबर। नपा-तुला पीना, नपा-तुला खाना और हर अपने नियम की पाबंदी उनकी ज़िन्दगी के ताने-बाने में मिली-जुली है जैसे।"

हमने कहा--"हमने तो कुछ और ही पाया उस दिन, गोरे सिपाहियों का दल कलकत्ते में चौरंगी के मोड़ पर पीकर ऐसा टन..."

"यह लो, हम ने यह कब कहा कि सभी दूध के धोये ठहरे। हम तो जिस भद्र-समाज से हिले-मिले उसकी चर्चा की। आखिर भले और बुरे कहाँ नहीं। रहे ये सिपाही गोरे—उनकी तो छूट है, छूट। बस, खाओ-पियो, मौज करो--कल जो बला आये, आये। और सौ में नब्बे तो किसी गाउन के दामन के छोर में बँधे तक नहीं—बस, जोरू न जाँता....।"

"कहे जाइये, 'अल्ला मियाँ से नाता'—है न।"

"अजी, 'मजा मियाँ' से नाता कहो—अल्ला मियाँ से वास्ता क्या।"

हमने फिर छेड़ा—"ऐसे आप जो कहिये, मगर नशा ही न हुआ तो फिर पीकर कोई पायेगा क्या–अपना सर? जाम तो पहला कदम है—मंजिल है बोतल—We begin with a glass and end with a bottle।"

"हाँ, जहाँ लोकमत वैसा संगठित नहीं, वहाँ यह सब कुछ संभव है। पर जान रखो, यह तुम्हारी अपनी कमजोरी, अपनी प्रवृत्ति है जो शराब को बदनाम किए जा रही है--बेकसूर। जिम्मेवार तुम हो, तुम्हारी तृष्णा--वह नहीं। वह तो एक तरफ शिव की तरह आशुतोष है तो दूसरी ओर माथे पर तीसरा नेत्र लिये संहार का स्रोत भी। एक हथेली पर अमृत तो दूसरी पर विष।"

"सो कैसे?"

"नहीं समझे? देखो, उसका पहला पेग अमृत है, दूसरा जोश, तीसरा नशा, चौथा विष। अब तुम जिस दौर तक जाओ--जानो तुम। तो उसी के अन्दर जिन्दगी है, फुर्ती है, नशे की खुमारी है और मौत की मुनादी भी। प्रसाद, उल्लास, अवसाद और विनाश सब कुछ। तो भद्र-समाज में वहाँ पीते हैं स्वास्थ्य के लिये—आलाप-संलाप के लिये, कुछ प्रलाप के

लिये नहीं। और, बुजुर्गों के सामने भी खाना, पीना, नाचना तक कुछ शोखी का इज़हार नहीं।"

"तो क्या खाने-पीने में भी कोई खास पाबंदी है वहाँ?"

"है नहीं? उनके जीवन के हर अंग में है वह। वहाँ सारी दुनिया एक वक्त लंच पर बैठती है, एक वक्त डिनर पर—जहाँ बैठे—घर, होटल या किसी की पौर पर दावत। यह नहीं कि कोई बेर डूबे खाता है तो कोई आधी रात और कहीं दावत रही तो वक्त तो कोई चीज़ ही नहीं हमारे यहाँ। वहाँ तो ब्रेकफास्ट और टी के साथ भी यही पाबंदी ठहरी वक्त की। हाँ, खुशी अपनी—तुम चाय पियो, कोको या कॉफी। उनका भोजन भी नपा-तुला है—हल्का-फुल्का—घी-मसाला बरायनाम। और धीरे-धीरे हँसते-बोलते, गप्पें लड़ाते खाना है। दुबारे माँगना या खुशामद में मेहमान के प्लेट में दिये जाना उनका तरीका नहीं।"

"मगर कहीं पेट न भरा तो?"

"जी, पेट-भर खाना या नाक-मुँह डुबो कर पीना तो वहाँ भद्र-समाज से गले में हाथ पाना है। और पीने से भी कहीं अधिक पेट-भर खाने में खतरा है—खास कर हम-जैसों के लिये, जिनके साथ किराये-गाड़ी की जोड़ी की तरह आठो पहर मेहनत-मजूरी नहीं। तो कम-खुराक ही अपने स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन की पहली शर्त ठहरी। जभी तो अंग्रेजों की उम्र का पैमाना हमसे कहीं बीस है, उन्नीस नहीं, सट्ठा तो पट्ठा वहाँ कोई तमाशा नहीं, करिश्मा नहीं' तो अंग्रेजों की सबसे बड़ी चीज़ है यह अपने नियम का अटूट अनुशीलन। मैं पूछता हूँ—तुमने देखा है किसी गोरे को बिना 'शेव' किये घर से बाहर आते? स्नान न करे—न सही, 'शेव' तो पलंग से उठते ही अवश्य करेगा वह। कहीं किसी भीड़ में ठेलमठेली या चढ़ा-उतरी

तो लंदन में मैंने कभी देखी ही नहीं। जो है, जहाँ है, एक कतार में है—एक बँधी लीक पर।"

"मगर यों पग-पग पर डिसिप्लिन का ऐसा अटूट ताँता रहा तो फिर जीवन का स्वाच्छन्द्य तो लुट गया!"—हम फिर छेड़ बैठे।

"स्वाच्छन्द्य? अजी, उनकी छूट तो सर्वसुखीन है—क्या नारी, क्या पुरुष—कोई तुलना नहीं। वहाँ तो जो है अपने पैरों पर खड़ा है—अपनी खुशी, अपनी जिम्मेवारी। मगर जैसे उनके राज्य-प्रबन्ध की कितनी तह की बातें एक अलिखित विधान पर टिकी हैं, वैसे ही नियंत्रित उनके जीवन का हर पहलू ठहरा। हाँ, एक और बड़ी चीज है उनकी—अपना देश पहले, अपनी जान, माल या परिवार पीछे। देश के कदमों पर सर्वस्व निछावर। है न!"

तभी प्रोफेसर साहब उठ खड़े हुए। बोले—"हम क्या कहें, हमारी ऐसी प्रशस्ति? आपका यह बड़प्पन आपके शिष्टाचार का प्रतीक ठहरा। रही 'अपने देश' की लगन...यह तो एक ओर वरदान है तो दूसरी ओर अभिशाप भी सरासर।"

"सो क्या?"

"क्या बताऊँ, आज यह अपना-अपना देश लेकर सन्धि और मैत्री तो दूर, वह आपाधापी का बाजार गर्म है कि बड़ी मछली किसी हीले छोटी को निगलने के लिये आठो पहर मुँह खोले, टक लगाये खड़ी है जैसे। और हमारी सभ्यता की भौतिक प्रगति तो आग में घी दिये जा रही हैं, घी। जभी तो मशीन पहले है, मनुष्य पीछे...कहाँ..."

"खैर, आप यह कह सकते हैं, आप आजाद ठहरे। पते की बात भी है यह, पर हमें तो पहले परिवार, पाँत और प्रान्त से अपना पल्ला छुड़ा देश की पौर पर आना है। यह लहर न आई तो हमारे देश का बेड़ा तो

पार होने से रहा।"

तभी हम प्रोफेसर साहब की ओर मुड़कर पूछ बैठे,—"अब आप कहे अपनी विशेषता। सिन्हा साहब से तो दो बातें हमारे युवकों ने जान लीं—यह अपनी आजादी—Freedom in all walks of life—साथ-साथ नियम की पाबन्दी भी, दूसरी राष्ट्रीयता की धुन भी।"

वह जरा रुक कर बोले—"हाँ, एकाध चीज और है। लो - Spirit of Adventure : यह भी अपनी एक निराली धुन है। तुम्हारे हिमालय की चोटियों को भी हल करके ही छोड़ेंगे हम—चाहे कुछ हो..."

सिन्हा साहब टोक बैठे—"मगर यह तो आपकी आजादी की एक लहर ठहरी। हम भी जब आजाद थे, तो कुछ उठा रखा था इस दिशा में ? और यह उन दिनों की बात है जब भाप और बिजली की सत्ता का किसी को पता तक न था।"

"अच्छा भई," प्रोफेसर साहब बोले—"पच्छिम को भी तो कुछ पूरब से पाने का हक है—हमारे ये युवक जो आये हैं वे आपसे क्या लें जो उनके निखार में चार चाँद लगा दे ?"

सिन्हा साहब ने हँस कर कहा—"हमसे, इस ग़रीब से ? हमारी झोली में अब रहा ही क्या, जब था तब था !"

"यह न कहिये, आपकी देन तो चिरन्तन ठहरी। हमारी उँगली जमाने की नब्ज पर जो हो, फिर भी आपकी तह की खोज की तुलना में तो वह एक प्रपंच ही है, कोई तथ्य नहीं।"

"सो क्या ?"

"देखिये न, वैसे तो भारत की क्या-क्या न देन है—Contribution to enlightenment, art and literature मगर उसकी

मुख्य साधना तो रही है आध्यात्मिक। और इस देन के आगे तो हमारी देन कौड़ी की तीन है। हमने तो जो कुछ दिया या दिये जा रहे हैं, उनकी पहुँच तो जीवन की पोर तक है, अन्दर नहीं। यह जड़ प्रकृति हमारी मुट्ठी में जो आई हो—जहाँ तक, पर आत्मा-परमात्मा की गहराई की छानबीन तो भारत की ही निराली धुन रह आई। भला कहाँ यह, कहाँ वह! माना कि आज जमाना उससे फिर गया है—फिरे, कभी तो दिन फिरेंगे उसके! आखिर दुनिया भी जानते-जानते जान ही लेगी कि जो कुछ पते का पाना है वह अपने अन्दर है, बाहर नहीं। वही कहा, अभी तो हमारी सारी प्रगति बहिर्मुखी ठहरी। यह देह और दुनिया दो दिन का मेला—बस!"

सिन्हा साहब दो पल रुक कर बोले—"मगर आज तो हम कहीं के न रहे। हम से क्या होना-जाना है भला! आज़ादी गई, अपनी रही-सही जमा-पूँजी भी गई। वह अध्यात्म का पल्ला भी अपने हाथों से छूट चला।"

"यह न कहिये, आज गाँधी की अहिंसा तो वही पल्ला है बेजोड़—एक अनूठा प्रयोग भी। अंग्रेजी सरकार की सारी सैनिक-सत्ता तो जैसे हाथ बाँधे खड़ी है, मोर्चा ले नहीं पाती है। आप इस आत्मबल को लिये लगे रहे, हिले नहीं, तो वह दिन दूर नहीं कि दुनिया आप ही जान लेगी कि हमारे अन्दर जैसी शक्ति प्रस्तुत हो सकती है उसके मुकाबले कोई भौतिक सत्ता की स्पर्द्धा तो कदम रोप न पायेगी!"

"है आपको ऐसा विश्वास? यह त्याग और संन्यास का अनुशीलन कोरा पलायन नहीं?"

"भई, अपनी तो यही छानबीन रही—यही भारतीय दर्शन। हमें तो रह-रह कर लगता है कि आज की जैसी स्थिति में अकेला साइंस के हाथों तो यह विश्व का बेड़ा पार न होगा। अध्यात्म की पतवार के बगैर तो

इस भव-भँवर से उबार नहीं।"

"यह आपकी क़द्रदानी ठहरी, हम क्या कहें ? मगर पच्छिम और ऐसी आत्म-समीक्षा की धुन ? वह तो अपने साम्राज्य के नशे में चूर है। उसे कहाँ फुरसत है या तबीयत कि वह सिर चीर ढूँढ पाये कि आखिर इस जीवन का चरम लक्ष्य क्या है—यही बाहरी टीम-टाम या और कुछ, और आगे..."

डिनर का दौर खत्म होने पर आया। प्रोफेसर साहब बड़ी नरमी से झुककर बोले – 'अच्छा जी, आपने तो कुछ कहा नहीं कि हम आपसे क्या लें—क्या आपकी ऐसी विशेषता है जो हमारे काम आए आज।"

सिन्हा साहब ज़रा झेंपते हुए बोले—"भला हम क्या कहें, कैसे कहें। अपनी ज़बान से अपनी..."

"जी नहीं, कुछ तो कहिये। हमारे युवकों को भी बड़ी चाह है। देखिये, उनके चेहरों पर भी यही प्रश्न है..."

"तो लीजिए, Spirit of Toleration—यही समदृष्टि ही तो भारतीय संस्कृति की धुरी रह आई बराबर। हमारे यहाँ तो जो भी आये, जब आये, उनकी नीति या नीयत चाहे जो रही हो, हमारे दिल के दरवाज़े तो बराबर खुले रहे। क्या धर्म, क्या समाज, क्या साहित्य और क्या शिल्प..."

"क्या बात कही है आपने। यह Toleration न होता तो हमीं आज यहाँ टिक पाते ?"

"मगर कसूर माफ़, इसकी भी एक हद चाहिये। आप तो भारत को अपनाने से रहे। चाह रहे हैं उसे अपने देश का एक पुछल्ला बना कर रखना। तो भई, जो दूसरों के सर पर पैर रखकर उठता है, उसे तो एक-न-एक दिन गिरना ही है देर-सबेर। जाने दीजिए..."

अपनी-अपनी गांठ

लीजिए, हमारे चचा साहब हैं कि रोज सुबह-शाम आरामकुर्सी पर लेटे हैं, लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं, गप्पें लड़ रही हैं, ठहाके गूँज रहे हैं, इनकी-उनकी सब की अर्जियाँ पेश की जा रही हैं—दिये जा रहे हैं आर्डर अनर्गल, किए जा रहे हैं दस्तखत अर्जी दावियों पर निरन्तर और रह-रह कर चल रही है चाय की चुस्की भी, नाश्ते की घुघनी भी। दुपहरी की वेला भी आसनी पर बैठ खाए जा रहे हैं दाल-रोटी हौले-हौले और साथ-साथ रोजमर्रे के जमाखर्च का ब्योरा सुन-सुन कर खाए जा रहे खजांची का सर भी कि ऐसा क्यों? इतना क्यों? बस, जब देखिये, क्या-क्या न लिये बैठे हैं, यह भी, वह भी—आठों पहर प्रस्तुत, व्यस्त।

और, आप ठहरे शाक्त—माँ काली के अनन्य भक्त। न भाई, ज्ञान हमें न चाहिये; वह हमारी पहुँच के परे है। ज्ञान मुश्किल, भक्ति करतल; ज्ञान दुरूह, विश्वास सरल।

मगर ऐसी भक्ति की लट भी उनकी लत के तले दबी है जैसे। अपनी दुनियादारी और पूजा-पाठ की पद्धति साथ-साथ—मिली-जुली। लीजिए, नहा-धो माथे पर चन्दन दिये पढ़े जा रहे हैं दुर्गापाठ फर्र-फर्र, लिए जा रहे

हैं आँख-कान खोल बड़े सरकार की तान-लेवर की आहट भी। और, हर अध्याय के अन्त पर दिए जा रहे हैं नौकर को यह-वह की ताकीद भी बराबर।

तो ऐसी होती है अपनी लगी-लिपटी। हाँ, एक शौक शतरंज ठहरा, वह भी कुछ फ़ुर्सत के वक्त नहीं। आँखें हैं सामने शतरंज पर, कान हैं पौर पर खड़े असामी की फरियाद पर। रही ज़बान, वह कभी आँख की सुनती है, कभी कान की।

मगर यह रवैया कुछ आप का ही अकेला न रहा। यह तमाशा तो उन दिनों आम था अपने कितने बड़े घरानों की पौर पर।

हाँ, गोरे अफसरों की सोहबत में आकर नई दुनिया देखी हमने—एक वक्त एक बात। यह वह साथ नहीं। सुबह कुछ है, शाम कुछ और रात की तो बात ही क्या– छोड़िये उसको। एक साथ कभी दो धुन नहीं। बस, एक दिशा, एक प्रेरणा। जब फाइल लिये बैठे हैं--घर हो या ऑफिस, किसी और बात की गुंजाइश नहीं, वह लाख दिलपसंद हो या आवश्यक। अपनी श्रीमती जी भी उधर झाँकने से रहीं, किसी और का गुजर तो दरकिनार। और जब शाम आई, शाम की चाय आई तो फिर नई चाह आई, नया उछाह भी। फिर क्या, फाइलें रह गईं कहीं की कहीं; चल पड़ा क्लब में टेनिस और ब्रिज का सिलसिला, हँसी-खुशी की रंगरेलियाँ भी। खाने-पीने की मेज़ पर तो सोच-विचार जगह पाने से रहा। जी का हलका-फुलका रहना अनिवार्य ठहरा।

रही अपनी धुन, यह सोहबत का असर हो या जन्मजात संस्कार; हम से तो यह-वह कभी एक साथ बना ही नहीं। पढ़ने के दिनों में शाम की फ़ुर्सत भी फ़ारसी और फ्रेंच जानने की धुन में ही उड़ जाती। कोई खेल नहीं, हाथ-पैर की कसरत नहीं, एक नशा—पढ़ना-लिखना बस।

हाँ, जब आते-आते वह दिन आया कि स्वास्थ्य लगा आड़े हाथों जवाब देने, तब हाथ-पैर मार मुड़ आये शाम की शाम टेनिस की पौर पर, अपनी रूठी हुई तन्दुरुस्ती की खुशामद में। वह काहे को सुने—'जा-जा, पहले कहाँ था जो आज आया है रिश्वत देने?' अब चारा? लेने के देने पड़े। एक साल की सजा पाई; साथ-साथ कसम भी खाई कि फिर सुबह-शाम किताबों के फेर में आए तो जो चोर की सजा वह मेरी सजा। बस, लीजिये, कॉलेज से दूर—बहुत दूर—मुश्कें बाँध भेज दिये गये हिमालय की तराई में, अपनी खोई हुई तन्दुरुस्ती का पता ढूँढने। रह गई बी० ए० की डिग्री; कहाँ दो साल में आती, कहाँ तीन साल की देन आई और तब से आज तक हमारी सुबह-शाम की सारी फुर्ती उसी सर्वशक्तिमान् के चरणों की अंजलि रही। आँखें खुल गईं; वह नहीं तो कुछ नहीं, क्या धन-मान, क्या हरि-नाम!

फिर भी सुबह-शाम सैर-सपाटे के वक्त एकाध संगी-साथी अवश्य चाहिये कि जबान खुल खेले—भूत का डेरा तो अपनी एकान्त साधना नहीं।

मगर यह सुबह-शाम एकाध घंटे के सैर-सपाटे चाहे जो आये, वह अपने एक इष्ट देव की आराधना तो बनी की बनी रही निरन्तर। आज भी एकछत्र है वह। हमारे कितने साथी-संगी हैं जिनकी एक हथेली पर राजनीति है तो दूसरी पर साहित्य और 'एक-एक का जवाब है, दोनों हैं लाजवाब!' यह कला तो अपने हिस्से आई ही नहीं कभी। राजनीति तो अपनी न रही है न रहेगी। हम अपनी खुशी न जमीन्दारी की गली में आये न जिला बोर्ड की चेयरमैनी की कुर्सी अपनाई। हमारी किस्मत या परिस्थिति हमें खींच लाई वहाँ, और जितने साल उनकी बन्दगी रही, अपनी लेखनी का पल्ला छूट गया। वहाँ से कहाँ मुड़ गये हम! आज जब वह अतीत की धुँधली तस्वीर लगती है आँखों में फिरने तो उठ-उठ के बैठ जाता है यह जी कि हाय राम!

किस मोह की मरीचिका की पौर पर आँख मूँद हमने जवानी ऐसी अपनी निधि लुटा दी। वह अठारह साल भी अपनी लेखनी के ही होके रहे होते हम तो आज...जाने दीजिये, जो दिन गये, गये।

यह तो कहिये कि सिन्हा साहब की एक बात की आन पर हमने पलट कर फिर लेखनी का पल्ला थाम लिया नहीं तो जाने आज कहाँ के होते हम, कहाँ होती अपनी कलम।

घर पर तो यह-वह का ऐसा अटूट ताँता है कि किसी करवट कल नहीं; थर्राकर बैठ जाती है अपनी लेखनी भी। जभी तो पहाड़ों की तराई में आकर वह झूम उठती है खुल खेलने। जी की शान्ति आई, लीजिए, उसकी स्फूर्ति आई।

तो उन दिनों पहाड़ों की तराई में आकर हम कभी यहाँ रहे, कभी वहाँ रहे। नैनीताल से मुड़ गये रानीखेत। आसपास पहाड़ों की सैर रही जहाँ कुछ दिन ठहरने की सुविधा मिल गई।

तभी अपने एक मित्र की सिफारिश पर पास-पड़ोस के एक बँगले में दो कमरे मिल गये। अकेला दम, अब चाहिए क्या, जगह पसन्द आ गई। इर्द-गिर्द सुन्दर दृश्य, हवा-पानी भी अनुकूल। और लीजिये, क्या शुदनी वक्त, एकाध साथी भी मिल गये कि जी बहले।

हमारे बँगले की दायीं ओर थे नन्दी—इञ्जीनियर, बायीं तरफ़ मार्टिन—हेड इञ्जीनियर। दोनों मकानों के बीच एक पहाड़ी टीला—ऊबड़-खाबड़।

यह कैसे होता कि पड़ोस में होकर हम उनसे मिलते नहीं, और मिलते रहने पर यह कहीं हो सकता कि एक-दूसरे के सुख-दुख से मुँह मोड़ रखते? शहर का हवा-पानी और है, पहाड़-जंगल का और। वहां पास-पड़ोस—

आध मील भी नहीं—गोरे फौजी अफसरों का एक अड्डा है--कन्टोनमेन्ट। वहाँ सब कुछ है--उनकी सुख-सुविधा, उनके राग-रंग के सारे आयोजन।

नन्दी की धर्मपत्नी मन्जु जानी-पहचानी निकली। उसके पिता कलकत्ते में हमारे पड़ोसी रहे—रेलवे इंजीनियरिंग विभाग के कोई अफसर। आदमी थे हेली-मेली; सरल, शान्त। धर्मप्राण तो ऐसे रहे कि प्रतिदिन माँ का प्रसाद पाकर ही तो कुछ मुँह में डालते।

मन्जु भी अपने पिता के ढाँचे में ही ढली है; वैसी ही स्निग्ध, शान्त। गोद में एक बच्चा रहा, तीन साल की एक बच्ची भी। उसके अन्दर कामिनी तो हमें दिखी ही नहीं--होगी कहीं लुकी-छिपी; वह तो जब दिखी तब पत्नी या माता। पढ़ी-लिखी तो खैर है ही, अंग्रेजी भी बोल लेती है कटर-मटर, अपने ढंग से। फुर्सत की घड़ी किसी दिन मार्टिन के बँगले पर भी चली आती है। हाँ, यों नहीं, नन्दी के साथ ही। किसी विलायती डिनर डान्स में तो शामिल होने से रही। बस, बच्चों के लिये नये-नये पैटर्न के कोट-स्वेटर बुनने की बारीकियों की छान-बीन बड़े चाव से चलती मिसेज़ मार्टिन की देख-रेख में। यह नहीं कि इस कला में, उसे कमाल न था पर प्रचार या दिखावा तो दूर, वह तो ऐसी सिकुड़ी-सिमटी रहती कि जैसे कि वह क्या कुछ जान रही है, आई है यहाँ अपनी मुश्किल हल करने। जो हो, मेम साहिबा के बच्चे की भी एकाध चीज़ वह बुन ही देती अपने शौक में। उस गोरे बच्चे से तो वह ऐसी घुल-मिल गई जैसे कि अपना ही हो वह।

उसका क्लब या टेनिस तो बच्चों के साथ खेल-कूद था, कोई और दिलबहलाव नहीं। पति घर पर हैं तो दोनों ही हाथ लड्डू, माँग और गोद की आव-भगत साथ-साथ। गोद में बच्चा लिये बैठी है, खिला-खेला

रही हैं उसे, होठों से गुनगुनाए जा रही है कोई रस की कड़ी भी, उधर पति की फरमाइशी डिशें भी तैयार किये जा रही हैं गुल-फुल। हाँ, जब नन्दी सफर पर हैं, आँखों के सामने नहीं, तो जी में जी नहीं—वैसे खतरनाक पहाड़ों के औहड़ मोर्चों पर कब क्या हो रहे, यही धुकधुकी है आठो पहर छाती के अन्दर। और, कोई ऐसा महीना नहीं कि पहाड़ी कुलियों के सर पर कभी कुछ बीत न जाता हो।

इधर एक मार्टिन की पत्नी हैं कि शौहर दौरे पर गये और अपनी छूट हो गई, दोनों हाथ लड्डू—क्या घर, क्या बाहर। घर पर हैं तो पास-पड़ोस के किसी गोरे अफसर के साथ सुआन झुरमुट की सैर है, शिकार है; बाहर फौजी अड्डे पर हैं तो लीजिये, ब्रिज, गोल्फ या टेनिस है, बन आई तो डिनर-डान्स भी। वह भी माता है, एक बच्चे की माँ, पर कहाँ मञ्जु, कहाँ वह! बच्चे को गोद में उठाये तो मैंने कभी उसे देखा ही नहीं। पहाड़ी ढलान पर कभी लुढ़क भी पड़ा तो धूल झाड़ वह खुद उठ खड़ा होता। यह नहीं कि माता दौड़ आई उसे छाती में समेटने। बस, पुचकार कर उसकी पीठ ठोक दी और फिर खुल खेलने की छूट दे दी। ब्रेकफास्ट और लंच पर माँ से साथ है, फिर नहीं। ऐसे हँसते-खेलते कभी आ गया तो आ गया, कोई बात नहीं; आखिर तो माँ माँ ही ठहरी! हाँ, आया की देख-रेख में सुबह-शाम पहाड़ों की सैर एक बँधी लीक है जैसे।

उस दिन मञ्जु ने अपने बच्चों की देखा-देखी उसे भी गोद में उठा कर चाकलेट, लेमनजूस, जाने क्या-क्या चखा दिया। मेम साहबा तिनक उठीं—"आखिर आज तुमको यह हुआ क्या है! बच्चा ही ठहरा, छछून पड़ा, उससे क्या? टाइम के पहले कुछ खिलाने-पिलाने के कायल नहीं हम। यह दुलार तो पलट कर आ जाता है अपने सर एक दिन।"

दो-चार दिन वाद की वात है। मार्टिन और नन्दी दौरे से लौटे नहीं। बारह बजे तक लौट आना रहा, दो बजने पर आये। मिसेज मार्टिन तो कलाई की घड़ी देख खाने की मेज पर जा बैठीं, चेहरे पर एक शिकन तक नहीं; मगर मञ्जु है कि आँखें बिछाये खड़ी है खिड़की पर। उस मौन के भीतर एक तुमुल आर्तनाद है जैसे। तीसरे पहर वह हमारे पास दौड़ी हुई आई कि कैसे क्या देर हुई, पता लीजिये। हमने कहा, कोई बात नहीं, मार्टिन साहब भी तो साथ हैं। हो सकता है उधर आँधी-पानी हो—रुक गये। अच्छा, ठहरो हम अभी मेम साहिबा से भी पूछे लेते हैं। वह जानकार ठहरीं, जानती होंगी।

मिसेज मार्टिन तो क्लब जाने की तैयारी में टेनिस के डंडे लिये सामने ही मिल गईं। चाय की चुस्की भी चल रही है गुल-फुल। हमने मञ्जु की बेवसी जो जताई तो लगीं हँसने—छोड़ो भी, वह तो वही की वही है—A typical Indian wife—a typical Indian mother.

'लीजिए,आप तो मजाक कर रही हैं? भला माता और पत्नी भी कहीं कुछ होती है, कहीं कुछ?"

"तो फिर यह क्या है, जब देखो तब उन्हीं को लिये जान दिए जा रही है जैसे।"

"मगर यही जाँनिसारी तो नारी-जीवन की धुरी ठहरी—है न?

जान देना किसी पै लाज़िम है,
यों ज़िन्दगी बसर नहीं होती!"

'दुत्! ऐसा भी होता है? वैसे मरता कौन नहीं है अपने प्यार के पात्र पर, मगर ऐसा नहीं कि अपनी जिन्दगी का जनाजा ही निकल गया जैसे!'

२

"यह लो, ऐसी भी क्या पड़ी है, चले कहाँ इस तूफान में ?"

मंजु के चेहरे पर एक रंग आ रहा है, एक रंग जा रहा है। आसमान पर बादल छाये हैं। हवा तेज-तुन्द है आज। लगता है, तूफान का जोर है। मगर पानी पड़े या पत्थर, अपनी ड्यूटी की पाबन्दी जो बड़ी चीज ठहरी।

नन्दी खड़े हैं अपने बँगले की पौर पर। हाथ में बैग है, आँख है आसमान की तानतेवर पर।

"तुम भी बड़ी वह हो, हम अकेले थोड़े ही जा रहे हैं। मिस्टर मार्टिन भी तो साथ हैं।"

"मैं पूछती हूँ, दो-चार घंटे बाद ही जाने में तुम्हारा जाता ही क्या है?"

"क्या नहीं जाता ? तुम क्या जानो। हमारा इतने-दिनों का किया-कराया सब मिटने पर आया है। पहाड़ों में वह भयंकर 'लैंडस्लाइड' है कि कहीं हमारी नई सड़कें भी टूट कर गिर गईं तो लो, गए हम। अब तो चाहे कुछ हो, मोर्चा लेकर रहेंगे हम।"

मंजु का चेहरा उतर गया। बोली—"क्या बताऊँ, रात एक ऐसा सपना देखा कि जान में जान नहीं।"

"यह खूब ! अपनी आशंका ने जरा-सी एड़ लगा दी और कल्पना लगी हवा पर उड़ने ! लीजिये, रात की अंधियारी में उतर आई सपना बन नींद की छाती पर मूँग दलने !"

तभी मार्टिन साहब का चपरासी दौड़ा आया कि साहब तैयार हैं, देर नहीं। फिर क्या, चल पड़े नन्दी, दायें देखा न बायें। मंजु बेचारी किवाड़ के पल्ले थाम खड़ी की खड़ी रह गई—घुलती रही अन्दर-ही-अन्दर !

× × ×

क्या जाने क्या लगाव है कि आदमी जिस बात के लिये भीतर-ही-भीतर डरा करता है वह आसमान फाड़ बरस ही जाता है सर पर एक दिन ! तो यह दिन भी आना रहा, आकर ही रहा आखिर। मंजु का डर उसके सर पर आ ही धमका पाँच दिन बाद।

कई दिन के लगातार आँधी-पानी के बाद आसमान साफ हो रहा है आज। बादल छँट चले। सूरज के चेहरे से घूँघट सरक पड़ा जैसे। लगा, दिन के चार बजे होंगे। मंजु के बँगले पर आकर हमने बन्द किवाड़ पर दस्तक जो दी तो अन्दर से आवाज आई—अभी आई !

तभी किसी के तेज कदमों की चाँप पर चौंक कर हम मुड़े तो क्या देखते हैं कि मिसेज मार्टिन बढ़ी आ रही हैं सामने।

"सुना तुमने ? बड़ा गजब हो गया, गजब !"

"क्यों, बात क्या है, कहिये न ?"

"वही लैंडस्लाइड—दो-चार हाथ नहीं, दो-चार फर्लांग ! कितनों के सर बीत गये। मोटर भी खड्ड में जा गिरी...साथ-साथ दोनों ही...मरे या अभी···क्या कहें···"

हमारे तो होश हवा हो गये ! पहाड़ों में हम आते हैं वहाँ के दरा-

पानी से जिन्दगी पाने। क्या पता, उसी हवा-पानी से आसमान भी यों फट आता है बेतहाशा और सरक जाती है पाँव-तले की धरती भी कि कहीं पनाह नहीं! पल में कुछ, पल में कुछ!

मंजु का चेहरा उड़ गया। अब गिरी, तब गिरी। बस, आँखें खड़ी हैं सामने दीवार पर टँगी माँ काली की प्रतिमा पर। काश वह पाषाणी भी प्राणमयी हो पाती!

"तो आप जा कहाँ रही हैं इस तेजी से?"

"चलो, अस्पताल चलो। वहीं आ रहे हैं तुम्हारे नन्दी भी। सुबह ही गोरे तिलंगों का एक काफिला जा चुका है उन्हें ढोकर लाने। देखो, क्या देखना है आज!"

आते-आते आ गए दोनों। सिपाहियों के कंधों पर आए। होश नहीं। लहू में लथपथ। आते ही ले लिए गए अस्पताल में। मिसेज मार्टिन तो साथ-साथ अन्दर गईं, देखती-सुनती रहीं, हाथ भी बँटाती गईं अपने ढंग से। दौड़कर अस्पताल से बड़े सर्जन को भी बुला लाईं। जाने क्या बात हुई, खड़े-खड़े वहीं कुछ लिख कर चपरासी को दौड़ा दिया तार-घर।

मंजु को तो साँप सूँघ गया जैसे। नाहक लाने गए उसे हम यहाँ। बस, खड़ी की खड़ी रही सर्जिकल वार्ड की पौर पर।

पल पर पल गुजर रहे हैं। क्या करें, क्या नहीं—इसी ससपंज में हैं हम। तभी अन्दर से मिसेज मार्टिन अनमनी-सी निकल आईं कि अब उठो, चलो, यहाँ सर फोड़ना बेकार है। जो करना है, कर दिया गया। जो होना है, होगा।

दस कदम भी न गए होंगे कि मिसेज मार्टिन ने मुड़ कर कहा—"अच्छा होता कि तार देकर उसके घर से किसी को बुला लेते—बड़ी टूट गई है मंजु..."

"तो आपने भी किसी को तार देकर…"

"नहीं-नहीं, हमने तो नैनीताल के बड़े सर्जन को तार दिया है। वह आ पाते तो कुछ उम्मीद बँधती। मेरे शौहर के सर से तो लहू की धार बनी की बनी है। क्या जाने…"

वह आगे बढ़ गईं। मंजु बैठ रही वहीं कुर्सी पर—हिलने को तैयार नहीं। समझा कर रह गए हम। आखिर उसे वहीं छोड़ चल पड़े तार-घर। उसके घर पर तार दे देना जरूरी ठहरा। उससे पूछना ही क्या, वह तो अपने आप में नहीं।

तार-घर से लौटते सामने क्लब की चहल-पहल पर नजर गई। देखा, वही रोजमर्रे का तमाशा है, वही जलवा। सब तो सब, मिसेज मार्टिन भी वहीं बैठ ताश खेल रही हैं। सामने मेज पर कॉकटेल का छलकता जाम भी है।

तभी देखा, अस्पताल की ओर से मंजु भी इधर ही बढ़ आई।

"तुम्हीं को ढुंढ़ने चली हूँ। आज रात वहीं रहना, बच्चे जो अकेले ठहरे। हम तो यहाँ से हिलने से रहीं।"

"तुम भी अजीब हो। एक नजर इधर तो दो। वह…वह रहीं मिसेज मार्टिन।……जानती हो न, मार्टिन की चोट तो कहीं संगीन ठहरी। और, एक तुम हो; क्या कहें हम, अपने ही से पूछो……"

मिसेज मार्टिन की नजर मंजु पर गई नहीं कि वह उठकर सामने आ गईं। हँस कर बोलीं—"लाओ, उसे भी दो घूँट पिला दें—She needs even a stronger tonic than Cocktail!"

"जी नहीं, उसका तो बस एक संबल है—वही यह, भला रघुवर की शरण न लेकर वह बोतल की शरण लेगी?"

"तुम नहीं मानते, न मानो। मगर वह बेखुदी तो बोतल की शरण में ही है। वही उसको उससे छुड़ा पाएगी इस पल।"

अब कोई क्या कहे? ऐसी कुच्छुम वह होती तो कभी की डूबी चुकी होती अपनी सारी लगी-लिपटी इसी प्याले के पनाले में।

मार्टिन की जान के उबार के लिये गोरे अफसरों ने अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। मगर दो दिन तक लहू-पसीना एक कर भी मौत से मोर्चा ले न पाये। उस दिन अस्पताल जाकर सुना कि पंछी उड़ गया—पिंजड़ा सूना पड़ा है। हाँ, नन्दी अभी साँस लिए जा रहे हैं, न आँख खोल पाते हैं, न बोल पाते हैं। मंजु वहीं बैठी तलवे सहलाए जा रही है—क्या दिन, क्या रात।

आज पहली बार मिसेज मार्टिन की आँखों में नमी-सी नजर आई। आखिर तो नारी—गोरी, विलायती ही सही। उसका चेहरा ही गवाह है कि क्या गुजर रहा है उस नकाब की सजधज के अन्दर। यह नहीं कि वह टूट कर गिर गई है। खड़ी है अपने पैरों पर, सब कुछ देख-सुन रही है, किए जा रही है अपना फर्ज भी।

दो-चार दिन तो कहीं जा न पाई वह। क्लब की चहलपहल में भी शामिल न हो सकी। होती भी कैसे?

हाँ, जो हुआ—हुआ, उसे लेकर अपनी सारी सुधबुध की तिलांजलि तो देने से रही वह—टूट कर गिरना तो दूर। रोते-कलपते तो किसी ने उसे देखा ही नहीं। बस, बाँह पर एक काली पट्टी बाँध रखी। छलक आते रह-रह कर आँखों में आँसू।

लीजिए, अँग्रेज अफसरों का ताँता लगा है उसकी पौर पर। कितने आ रहे हैं, जा रहे हैं। दो पल खड़े-खड़े अपनी समवेदना जता दी—फर्ज अदा हो गया।

किसी आन्तरिकता का तो दस्तूर ही नहीं जैसे। यह बाहरी सफाई और पुताई तो कोई इनसे सीखे! विलायती हवा-पानी की टकसाली शिष्टता तो अधिकतर जाहिरदारी ही ठहरी।

चौथे दिन नन्दी भी चल बसे। रह गई मंजु प्रणतपाल के चरणों पर सर फोड़ती। यह तो कहिये कि दो दिन पहले ही दो सगे भाई आ गये, बूढ़ी सास भी—नहीं तो कैसे क्या होता राम जाने! जो हो, हमें तो लगा कि उसकी जिन्दगी की दीप-शिखा ही बुझ गई जैसे। उसे तो पता तक न रहा कि कब किसने उसके हाथों की चूड़ियाँ तोड़ दीं, पैर से महावर, सर से सिन्दूर धो डाला और कमर से रेशमी साड़ी खींच एक सादा-सा टुकड़ा बाँध दिया ज्यों-त्यों! गनीमत है कि गोद में दो बच्चे हैं। वह न होते तो शायद यह जिन्दगी भी मौत हो जाती! दूसरे ही दिन उसे साथ ढोये चल दिये कलकत्ते।

मिसेज मार्टिन तो पाँच-सात दिन के अन्दर ही अपनी रोजमर्रे की जिन्दगी के दर पर लौट आईं। विधवा और सधवा में कोई भेद तो रहा नहीं। वही खान-पान, वही साज-सिंगार, वही शाम का हँसी-खेल। वह बाँह का काला फीता भी कुछ ही दिनों में न जाने कहाँ उड़ गया!

कोई बीस दिन बाद। कल सुबह ही घर लौट रहे हैं हम। पहाड़ों की सैर हो चुकी। सोचा, जाने के पहले मिसेज मार्टिन से मिल लें—फिर वह कहाँ और हम कहाँ!

शाम होने पर आई है। आसमान हँस रहा है। हवा झूम रही है। क्या सुहावना समाँ है आज! बादलों का जत्था जाने कहाँ गुम हो गया है। आज तो जो है वह सामने के टीले पर खड़े होकर आँख उड़ेल पिये जा रहा है बर्फीली चोटियों के इर्द-गिर्द छलकता हुआ गोधूलि का गुलेनार

जाम। देखा, मिसेज मार्टिन भी वहीं खड़ी इस रस-पान में विभोर हैं जैसे। आँखें चार होते ही हमारी ओर मुड़ कर एक अजब अदा से पूछ बैठीं—"कहो, कैसी लग रही हूँ आज मैं!"

हम तो दंग। यह क्या प्रश्न है—क्या रहस्य! कभी जो ऐसी गहरी छनती रही हो हम से। आज क्या है कि यों उबल पड़ीं वह! नहीं-नहीं, यह प्रश्न तो हमारी आँखों से नहीं, अपनी ही आँखों से होना चाहिये। पर, हमने हँस कर कहा—'हमारी आँखों से पूछिये यह, जबान तो उसे अदा करने से रही।' और, बात भी थी, आज तो वह सजधज, वह रंग-रोगन है कि देखा करे कोई।

शर्म से झुक गईं वह। लगा कि यह क्या पूछ बैठी, किससे—किस आवेश में···। मगर बन्दूक की नाल से जो गोली निकल चुकी थी, वापस आने से रही वह। हाँ, उनके चेहरे पर उमड़ी हुई प्रतिक्रिया की लहर तो हमारी आँखों से छिप न पाई।

"मगर आप यहाँ खड़ी-खड़ी देख क्या रही हैं बड़े चाव से?"

"वही, वह···वह देखो, क्या आन-बान है निराली! अब तो फिर देखने से रहीं हम! कहाँ मिलेगी हिमानी चोटियों पर ऐसी गोधूलि की मोहिनी!'

"तो आप भी जा रही हैं क्या?'

"और क्या? कई दिन रह गईं, यही बड़ी वैसी बात ठहरी। परसों नये इंजीनियर जो आ रहे हैं—मकान खाली कर देना ठहरा।"

"तो फिर लंडन जाने का प्रोग्राम है न?"

"देखो, कैसे क्या होता है! अभी तो नैनीताल होते हुए जा रहे हैं कलकत्ते।···अच्छा, आओ, तुम्हें अपने मित्र चेस्टर साहब से मिला दें।"

चेस्टर साहब वहीं ठहरे दो कदम पर। देखा, तीस-पैंतीस का सिन है।

छरहरा बदन, होंठों पर मुस्कान, आँखों पर ऐनक।

टहल-टहल कर बातें होती रहीं। पता चला, मार्टिन साहब से बचपन से ही साथ रहा आपका। यहाँ भी दोनों साथ ही आये। वह इंजीनियर, यह फर्म-मैनेजर। कोई कहीं रहे, मेल-जोल बना का बना रहा। इधर फर्म के कुछ जरूरी काम से आप लंडन गये थे। पाँच दिन हुए, वापस आये। कल नैनीताल में मार्टिन की मौत की खबर पाकर दौड़ आये यहाँ बेतहाशा। मिसेज मार्टिन को साथ लिये ही लौट रहे हैं आप।

तो उस अप्रत्याशित प्रश्न का समाधान यह चेस्टर का शुभागमन है क्या!···

(२)

दिन जाते दिन नहीं लगते···हाँ, हँसी-खुशी के दिन। कब आये, कब गये—पता पाना आसान नहीं। मगर, एक दिन वह भी आता है कि काटे नहीं कटता और रात लगती है काट खाने—आँखों में ही कटने जैसे।

जो हो, इस दुनिया में कुछ ऐसे भी हैं सधे-बँधे, जो किसी टेढ़े दिन के फेर में आये भी तो क्या, उसी के होकर रहे नहीं और न ऐसे गिर गये कि फिर जी उठने से रहा।

कोई आठ महीने बाद की बात है। कलकत्ते आकर दोनों ही मिलीं—वही मंजु, वही मिसेज मार्टिन। मगर कहाँ वह, कहाँ यह! एक के रेशे-रेशे पर मुर्दनी छाई है निरन्तर, दूसरी की पोर-पोर पर नई जिन्दगी की लहर!

मिसेज मार्टिन तो अब मिसेज़ मार्टिन रहीं नहीं, मिसेज चेस्टर हैं आज। वही रोजमर्रे का राग-रंग है—वही ब्रिज और डान्स, वही कॉकटेल। मार्टिन का बच्चा अब माँ के साथ नहीं, लंडन के किसी स्कूल में दाखिल है वह। बस, एक स्नेह का सरोकार जो हो, जितना।

रही मंजु। तो वह तो सर से पैर तक सुपैद हो रही है—सुपैद चेहरा; वह लुनाई, वह गुलाबी नहीं—सुपैद साड़ी, सुपैद ब्लाउज़ और पैर में सुपैद चप्पल। बस, एक सर के बाल काले के काले हैं जरूर, पर यह चेहरे पर छाये हुए बादल क्या वही मेघ-कज्जल कुन्तल-कलाप हैं कि 'बाल खोले तो घटा लोट गई!' वह रहा, रहा—न रहा, न रहा।

हाँ, अब शान्त-स्थिर है वह, अपने को सहेज ली है जैसे। हर साँस के साथ वह छाती की उसांस नहीं। दोनों बच्चों की देख-रेख उसे बहलाये रहती है आठो पहर। पड़ोस की कन्या-पाठशाला में अध्यापिका क्या हुई, अपने पैरों पर खड़े होने की एक पौर पा गई। कुछ घंटे अपने को अपनी छाती की दबी हुई सिसकियों से अलग कर पाती है, यह भी गनीमत है।

मंजु से हम दो पल मिले भी। बात तो वैसी कुछ हो न पाई, पलकों से धरती कुरेदती रही वह। आँखों में आँसू लिये बोली—"आशीर्वाद दीजिये, बच्चे फूलें-फलें; हमें और चाहिये ही क्या!"

मंजु के देवर का विवाह है। उसे कलकत्ते के एक विलायती फर्म में अच्छी-सी जगह मिल गई है मिस्टर चेस्टर की ही सिफारिश से। फिर क्या, आसमान से सितारे उतार ले वह! बरस पड़े सर पर अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध के अर्घ्य। लीजिये, एक बड़े घर की सोने में पीली, सोने-सी पीली सुन्दरी मिल गई—'चट मँगनी, पट व्याह!'

हम भी उस विवाह में शामिल हो रहे। मंजु तो घर में रहकर भी व्याह के घर से बाहर ही रही निरन्तर—व्याह के एक-एक रस्म से दूर, उछाह की सारी हलचल से दूर। जब सर से सिन्दूर धुल गया तो फिर इस जीवन-चमन का सुहाग ही लुट गया जैसे। थियेटर या सिनेमा तो मीलों दूर—घर की हँसी-खुशी में भी शामिल नहीं।

दो दिन बाद मिसेज चेस्टर से भेंट हुई तो वह एकाएक उबल पड़ीं—"क्यों जी, तुम तो मंजु से मिले होगे ? वह यों ही आँसू ही बहाती रह जायगी क्या ? उसे भगवान की देन रूप, रंग सब कुछ है—जब चाहे, अपनी वह खोई हुई जिन्दगी…"

"जी नहीं, वह जिन्दगी तो वापस आने से रही। जो टूट गई, टूट गई।"

"यह अजीब बात है। पति से गई—जिन्दगी से गई, जहान से गई ? ऐसा ? लो, हमको देखो, एक गया, गया; आ गया दूसरा। हमारा गया क्या ?"

हम चुप रहे। दो पल ठहर कर बोले—"आप तो मार्टिन के रहते भी अपनी नाव पर पाल बदल पातीं। रास्ता ढूँढ़ लेना कोई मुश्किल नहीं, कोई प्रतिबन्ध नहीं। परिवार की गाँठ ही जो वैसी ढीली ठहरी।"

"तो बुरा क्या ? हमारी लट कहीं दबी नहीं। अपनी खुशी-खुशी ठहरी—है न ? तुम्हारे यहाँ नारी बेचारी तो एक पर-कटी कबूतरी है जैसे—उड़ान लेना तो दूर, दरबे के दर के बाहर फुदक भी नहीं पाती। जानते हो, हमारे बच्चे की वह बूढ़ी आया क्या कहा करती रही बराबर ?…"

"कहे जाइये।"

"यही कि मुझे परवाह नहीं, शौहर क्या है—कैसा, बेटा पढ़ा-लिखा या आवारा, बस, अपनी पंगत में राँड़ या बाँझ का नाम न हो—यही अपना सब कुछ ठहरा।"

"माफ़ कीजिये, आप जिस हवा-पानी में पल आईं, उसमें सब कुछ अपनी मौज है, अपना इन्द्रिय-सुख। वह पहले, पति या पुत्र पीछे। हमारे यहाँ नारी के हिस्से सेवा और त्याग आया, उसी समर्पण में ही उसके जीवन का स्पन्दन ठहरा।"

"ओ हो ! बड़ा तीर मारा यों अपना सब कुछ लुटा कर !--By jove, what a calamity it is to be born a woman in this country !"

"आप नहीं मानतीं, न मानिये। पर, जब पचास के पड़ोस में आकर इन्द्रियों की सत्ता लगती है जवाब देने, तो फिर जिन्दगी की डावाँडोल नैया ....."

"छोड़ो भी ! कल क्या होगा—इसे लेकर हम आज की मौज पर आँच आने दें, ऐसे सिरफिरे तो होने से रहे हम !"

रस की प्यास

वह जो किसी ने कहा है न कि सम्पत्ति छूट सकती है, अपनी प्रियतमा पत्नी तक छूट सकती है, पर अपनी कीर्त्ति की आरती की मोहिनी तो जीते-जी छूटने से रही। तो लीजिए, यही अपनी खुदी की बन्दगी तो इस जिन्दगी की जिन्दगी ठहरी। ऐसा एकछत्र है यह नाम का मोह।

कोई कुछ भी कहे, यही अहं का अनुशीलन तो इस जीवन का रसायन ठहरा। कोई भी बरी नहीं—क्या साहित्यिक, क्या लोक-सेवक और क्या संत-साधक।

'हम हुए, तुम हुए या मीर हुए
इन्हीं जुल्फों के सब असीर हुए।'

सेवा की योजना हो तो, त्याग की प्रेरणा हो तो, उसका अतलस्पर्शी रहस्य तो इसी रस का आस्वादन है। कहाँ है वह नामीगरामी लीडर जो अपनी शुहरत की सुराही का पेंदा न चाटता हो, वह वीतराग ब्रह्मनिष्ठ जो शिष्यों के साष्टाङ्ग के शिकञ्जे से अपनी आत्मा का गला छुड़ा सका हो और कहाँ है वह कवि या कलाकार जिसका रेशा-रेशा—क्या अन्दर, क्या बाहर —तालियों के तराने से झूम-झूम न उठता हो!

बस, कोई थोड़ा-सा भी ऊपर से खुरच पाये तो हर ऐसे-वैसे के अन्दर से वही रंग उभर आएगा जो हमारे लहू में भरपूर है निरन्तर। हम तो पाते हैं, इस दुनिया के हवा-पानी में एक निर्लिप्त जल-कमल तो आसमान का फूल है, फूल!

तो भाई मेरे, यही सुरा है, यही सुन्दरी। यही अतीन्द्रिय रति चाहिए,

यही परातृप्ति। हाँ, स्तुति की पद्धति बदलती रहती है—कभी कुछ, कभी कुछ—पर अपनी प्रशस्ति की आसक्ति तो बदलने से रही। हम रहें या न रहें पर हमारे नाम और रूप की आरती बनी की बनी रहे—यही अपनी लगी-लिपटी निरन्तर रह आई और चिरन्तन बनी रहेगी। बस, एक माध्यम चाहिये—कहीं आश्रम है, कहीं मन्दिर, कहीं कॉलेज, कहीं पुस्तकालय कहीं और कुछ।

याद है न, इक़बाल की वह निराली चीज़—

'जीना वो क्या जो हो नफ़्से-ग़ैर पर मदार
शोहरत की ज़िन्दगी का भरोसा भी छोड़ दे।'

मगर इसी शुहरत की सुराही से तो इक़बाल की लेखनी ने वह रसमस्ती, वह स्फूर्ति पाई कि उमड़कर आसमान से सितारे तोड़ लाई अपनी कृतियों के शाश्वत शृंगार के लिये।

जाहिर है, हमारी सारी सुधबुध तो ममत्व के इसी सुनहले पिंजड़े के अन्दर ज़िन्दगी का दाना-पानी पाती है। यही नाम-पाश पहले है, धन-धाम या काम-पाश पीछे। और, इसी नाम के लिये जीना है, इसी नाम के लिये मरना भी।

और, हम बड़े-बड़ों के चरणों पर अपनी श्रद्धाञ्जलि की डाली रखते हैं अपनी भी पूछ के लिये, अपनी भी पैठ के लिये। उनका कृपापात्र होना ही दस की आँखों में ऊँचा उठना है।

तो लीजिये, कोई सौ-पचास के हाथों फूलों की जयमाल पाकर इतरा रहा है तो कोई श्रद्धेय के गले में अपने हाथों से हार पहनाने का सुअवसर पाकर अपने आप में नहीं। यही मुँह की लाली तो उसकी मान-मर्यादा की किल्ली ठहरी।

याद आ रहा है हमें आज वह दिन जब पहलेपहल महाराजा बहादुर

इस गरीब की पौर पर तशरीफ़ लाये। क्या करिश्मा था यह, आसमान से चाँद उतर आया जैसे! क्या-क्या कोशिश और बन्दिश चली तो यह सुदिन हाथ आया! महाराज के दरबार में अपना एक दर्दशरीक उनकी नाक का बाल न होता तो रह जाते हम अपनी अर्जियाँ पेश करते—'न नौ मन तेल होता न राधा नाचती'।

हमारे जिले में दो-चार ही ऐसे गिने-चुने घराने होंगे जो इस परम्परा के हकदार माने जाते। अब जिसकी चातुरी की चित्ती चित आई उसी की जीत रही।

महाराजा बहादुर तो किसी उम्मीदवार पर साफ़ खुलते न थे। आप हाथ जोड़े जाइये, सर झुकाए जाइये, अपनी अर्जियाँ सुनाए जाइये—वह हैं कि हर की सुन रहे हैं, समझ रहे हैं, मुस्कुरा रहे हैं, ज़बान से फुलझड़ियाँ भी बरसाए जा रहे हैं, मगर यह चिकनी ज़ाहिरदारी तो उनके अन्दर का पता देने से रही। हाँ, जो दो-चार उनकी नज़र से अपनी नज़र मिला पाते वे ही उस नुमाइश की नब्ज टटोल पाते और यह कला तो उम्मीदवारों की टोली में आते-आते आई। लीजिए, हमारी उस बेनजीर नजर तक गुजर हो गई—

'जीना भी आ गया हमें मरना भी आ गया
पहिचानने लगे जो तुम्हारी नज़र को हम!'

मानी हुई बात है, ऐसे तो आने से रहे वह। कोई हीला चाहिये। कैसे क्या हीला हो—यही बड़ी चीज ठहरी।

चैत के रामनवमी के अवसर पर एक विशेष उत्सव का आयोजन जाने कब से होता चला आया है हमारे यहाँ। काशी से कीर्त्तन की कोई जानी-सुनी मण्डली आती, एक नामीगरामी गानेवाली भी। साथ-साथ एक अच्छे धर्माचार्य भी आते रहे, जिनके चरणों की धूल सर पर लेने जवार की जनता

उमड़ी आती। दिन में पूजा और आराधना का सिलसिला, धर्मगुरु की व्याख्यानमाला की कड़ियाँ और रात में सुर-सुन्दरी के गला और कला की लावण्य-लीला।

यों भोग और योग, लोक और परलोक दोनों का ही अनुशीलन एक साथ चलता—कोई निरोध नहीं, कोई अवरोध नहीं। और, जनता दोनों की ही पौर पर आँखें बिछाये खड़ी रहती, दोनों से ही अपनी ज़िन्दगी की ख़ुराक पाती—एक से अपनी इन्द्रियों की मज़ेदार दावत, दूसरे से उस दिव्य प्रेम का रसास्वादन की।

और, ये दोनों विभूतियाँ काशी से ही हमारे घर पर बराबर आईं। उन दिनों की काशी इस धरातल पर अमरावती का प्रतिद्वन्द्वी थी जैसे। एक ओर रम्भा और मेनका की टोली, दूसरी ओर शुक्राचार्य और बृहस्पति की भी। लीजिये, दोनों ही हाथ लड्डू। यह भी, वह भी—जब जैसी माँग रही। रस का कौसर भी है, दिव्य जीवन का स्वर्ण-अवसर भी। कोई इस पर मरता है, कोई उस पर। और, काशी में मरना भी स्वर्ग का सोपान पाना है निरन्तर।

उन दिनों धर्म का राज्य था, घर-घर उसीका रोब-दाब। कितने धर्माचार्यों की पौर को हमारे राजाओं के सर भी चूमते। जो नाम चाहता है वह मन्दिर या आश्रम बनाने में ही अपना सब कुछ निछावर कर देता है। जानता है, यही निर्झरी—यही नामवरी तो उसके चरणों के तले लोक रख देगी, पलकों के तले परलोक भी।

अब एक ऐसे जाने-माने धर्मधुरंधर गुरुवर के आने पर महाराजा बहादुर कैसे नहीं आते—कहिये, ख़ास कर जब वह महफ़िल की रानी भी आ रही है जिसे भगवान की देन गला ही नहीं, अपने पसीने के स्नान की देन वह कला भी है कि आसमान से फ़िरिश्ते उतार ले एक सुरीली तान पर। अब

रहा उनका कीर्त्तन, उनका अभिनन्दन; तो इसमें पूछना ही क्या, यह सारा आयोजन तो उसी के केन्द्रविन्दु का वृत्त ठहरा, उसी साध्य का साधन।

धन भाग। आ रहे हैं महाराज! घर-घर यही चर्चा है—यही मसला। कैसे उन्हें भरआँख देख पायें—यही पड़ी है सब को। पर्दे में पली बहुएँ तो सास की आँखें बचाकर किवाड़ों की फाँक तक छुरियाँ दे-देकर फोड़े जा रही हैं गुपचुप। वही धुन—अब नहीं तो फिर नहीं!

क्या खूब! 'आमद जो गुलिस्ताँ में सुनी है बहार की'

नज़रों को फ़र्शराह किये जा रहे हैं हम।'

लीजिये, आ गये सरकार। खुली हुई चौकड़ी गाड़ी से नहर के पुल तक आये। दोनों ओर घुड़सवारों की अवली रही। आते ही दस नाल बन्दूकें दागी गईं एक साथ—तोपों की गूँज जैसी।

फिर क्या? जान गया बच्चा-बच्चा कि—'वही आया कि जिसकी आरजू थी'। दोनों पटरियों पर हज़ारों हजार की भीड़ उमड़ आई।

आध घंटे पहले ही से हम पुल पर खड़े थे। आते हुए घोड़ों की टाप की आवाज़ मीलों तक इर्द-गिर्द छा गई।

हमने आगे बढ़कर महाराजा की आवभगत की। गंगा-जमुनी तानज़ाम उनके सामने लाकर रखा गया। आप हाथ में खुली तलवार लिये बैठ गये मखमली गद्दी पर। नई बनारसी वर्दी में लैस कहारों ने तानज़ाम को कंधों पर उठा लिया। हम सब दोनों बाजू पर पैदल ही साथ हो लिये। किसी के हाथ में आसा या बल्लम, किसी के हाथ में चँवर। और, जो है वह बन्ददार अँगरखे में है; सर पर साफ़ा, कमर में तलवार। मजाल नहीं कि कोई ख़ाली सर या सर पर दुपल्ली दिये सामने आये!

सड़क के दायें-बायें हजारों हजार के जुड़े हाथ, झुकी गर्दन तो देखते

ही बनती। रह-रह कर 'महाराज की जय' के नारे गूँजते, सजे-सजाये मकानों की छत से स्वागत के झूमते तराने भी। घर-घर कदली के तोरण, दरवाज़ों पर बन्दनवार भी।

मन्दिर की पौर पर आकर महाराजा बहादुर तानजाम से उतर पड़े। चल पड़ी पूजा-आराधना की पद्धति। एक ओर झाँझ और शंख, दूसरी ओर मंजीरा और मृदंग।

आध घंटे तक यह सिलसिला रहा। नई आन-बान—निराली आरती, निराली वन्दना। बाहर के सायबान में कीर्त्तनमण्डली की निराली झंकार अलग थी।

लीजिये, भगवान के गले की माल महाराज की झुकी हुई गर्दन में आनी थी कि उसी पल गिन्नी की भेंट प्रभु के चरणों पर झनझना उठी और बात की बात में पुजारी जी ने उसे उठा कर टेंट में रख लिया।

अब आ गये सरकार गुरुवर की पौर पर। गुरु महाराज तो मन्दिर की चहारदीवारी के अन्दर एक अलग कोठरी में ठहरे थे। शिष्यों की मण्डली साथ रही। गिन्नी की भेंट यहाँ भी रही। पर, गुरु महाराज की आँख उसे छू पाई हो, हाथ नहीं। वह तो वैसे ही अपने में खोये-से पद्मासन पर बैठे रहे। महाराज ने उनके चरणों पर सर रखा और हाथ जोड़े एक क़रीने से खड़े हो गये।

तभी एक इशारा पाकर सारा कमरा ख़ाली कर दिया गया। रह गये वह अकेले गुरुवर के आगे दिल चीर अपनी मिन्नतें रखने।

हाँ, जब गुरुवर बाहर आये मंच के एक सिरे पर बैठ अपनी अमृत-वाणी सुनाने, तब महाराज की अध्यक्षता में ही वह सभा हुई। बड़े पते की बात समझाई आपने। महाविद्या के षोड़श-दल-चक्र की सिद्धि हमारे सर पर

छाये बादल को कैसे बैठे-बिठाये दो पल में तितर-बितर कर पाती है—यही उस वाणी की निराली निर्झरी थी। कितने उसे समझ पाये—हम क्या कहें, कैसे कहें? हमारी समझ तक वह आई भी तो क्या आई जब इधर आई और उधर उड़ गई।

अब आ गये महाराजा बहादुर चकमक शामियाने के अन्दर मखमली मसनदों से घिरी कारचोबी की गद्दी पर। यहाँ एकछत्र हैं वह। दायें-बायें खड़े चँवर डुला रहे हैं दो बड़े घराने के साहबजादे और गद्दी के दोनों बाजू पर शेरवानी-साफ़े में लैस बैठ गया जिले के सारे जाने-माने रईसों का काफ़िला। लीजिए, जो है वह इठला रहा है कि वह भी कुछ है—कुछ ही नहीं, बहुत कुछ है।

मौलवी साहब ने आकर मोतीचूर के खुँचों के सामने फातेहा पढ़ा, कवियों ने महाराजा की वीर-गाथा शुरू की। क्या बात कही है हमारे पारदर्शी कवि ने—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।'

तो लीजिए, सुनिये उनकी वीरता, उनकी उदारता, उनकी सदाशयता के एक-से-एक किस्से, अच्छे-से-अच्छे कारनामे। मीर साहब ने तो वह रंग बाँधा कि सारी महफ़िल लोट-पोट कर रह गई—

'हम ज़ब्त बेमिसाल हैं तुम ज़र्फ बेहिसाब,
हमारा जवाब है न तुम्हारा जवाब है।
हम इश्क बेनयाज़ हैं तुम हुस्न बेपनाह,
हमारा जवाब है न तुम्हारा जवाब है।'

अब आई हमारी बारी। हम उठकर उस भरे दरबार में सामने आये एक क़रीने से अपनी बन्दगी बजाने, अपने दाहिने हाथ की हथेली पर गिन्नी रख कर सरकार को नजर करने। यही सिलसिला आध घंटे तक जारी रहा।

पहले कौन और कौन किसके बाद—यह एक बँधी लीक है और इसी लीक की टेक रखनी है सबको।

लीजिए, वह भी आ गई--वही कंचनी, जिसकी आँखों में छलकती हुई अंगूरी थी, होठों पर मुस्कान की विजली भी और गले में सुर और लय की वह रसीली लावण्य-लहरी कि इन्द्रपुरी की उर्वशी भी पानी भरे उसके सामने। क्या आँख और क्या कान, दोनों के ही रसास्वादन के लिए ऐसे षट्रस व्यंजन की चाशनी तो कहीं ढूँढ़े भी न मिलती। और, वह अकेली तो थी नहीं, दो और थीं उसकी हेलीमेली--उठती कोंपलों की अनूठी बानगी, जो सुर से सुर ही नहीं मिलातीं, कमर से कमर भी।

बस, उनका गला खुलना था कि हमारे रेशे-रेशे खिल उठे। इधर झूम उठे हम, उधर बरसने लगी उन पर वाहवाही भी, चाँदी भी।

फिर तो वह समाँ बँधा कि घंटे जैसे पलों में उड़ गए। और, कब कैसे वह रात भी प्रभात के दामन के तले जा रही—हमारे फिरिश्तों को भी ख़बर न हुई।

[२]

अब हमें यह पड़ी है कि लाट साहब भी इस गरीब की पौर पर आएँ। दुनिया उनकी, जमाना उनका। वह आए तो हमारे सुदिन आए, हमारे सितारे ऊँचे आए।

खुली हुई बात है, उनका आना तो सब पर बाला ठहरा। प्रान्त के सारे अफसरों पर भी अपनी धाक जम गई। मगर वह कैसे आएँ—किस हीले—यही दर्द-सर निकला। बनारसी विभूतियों की मदद तो यहाँ कारगर होने से रही, न दरबारी शायरी की सुराही से उनकी वाहवाही की प्यास ही मिट पाती।

मगर जहाँ चाह है वहाँ राह भी तो है—बला से, पथरीली ही सही। तो लीजिए, उस मुश्किल का हल—कहिए उसे नियति, कहिए उसे शुदनी—

मिल ही गया दो दिन के अन्दर। हमारे यहाँ नये ज़िलाधीश जो आए, अपने जाने-माने निकले। गोरे साहब तो थे ही, बड़े-बड़े अफ़सरों की नब्ज़ पर उँगली भी थी उनकी।

पता चला, साहबों की दुनिया में सबसे बड़ी चीज़ ठहरी शिकार की शुहरत। वही उनकी दिलेरी और सुर्ख़रुई की सनद ठहरी। जो शिकारी नहीं, वह दब्बू और कायर में शुमार है। लाट ही क्यों न हो वह, गोरों की नज़र में धाक होने से रही।

गवर्नर को अभी तक कोई वैसा शिकार हाथ नहीं आया है। भेड़िये और हिरन तक ही हाथ मल कर रह गए हैं। कहाँ चाहिए शेर या रॉयल टाइगर।

हमने कहा—"कोई बात नहीं, शिकार के ज़िम्मेवार हम खुशी से होंगे।"

"मगर कहीं वह आमने-सामने न पड़ा, निशाना चूक गया तो?"

"छोड़िए भी, आप बेफ़िक्र रहें, नाम लाट साहब का ही होगा।"

मगर यह शिकार तो हाथी का दाँत खाने को था, दिखाने को रहा हमारे यहाँ अस्पताल का उद्‌घाटन। इमारत तो वैसे बनकर तैयार थी। ज़माना हुआ, बंगाल के एक लाट साहब ने ही उसकी नींव रखी थी। मगर हाँ, अभी तक अस्पताल वैसा चालू न था। अब लीजिए, नये गवर्नर के हाथों आशीर्वाद पाकर वह निखर उठेगा दो दिन में।

ज़ाहिर है, नये गवर्नर कोई वैसे शिकारी न थे और शेर का शिकार कोई बायें हाथ का खेल नहीं। ख़तरे का प्रश्न अलग है। बड़े-बड़ों के दाँतों पसीना आ जाय। निशाना चूका तो एक झपट्टे में काम तमाम कर दे—जैसा ख़ूँख़ार जानवर है वह। वैसे तेंदुआ चीता या लकड़बग्घा तो दिन-दहाड़े भी मिल जाता है मगर यह शिकार तो उनकी शुहरत का आधार न होगा गोरे अफ़सरों की निगाह में। हमारी परीशानी अलग है—कहीं मन-चाहा शिकार हाथ न आया तो हमारा सारा किया-कराया बेकार गया—लेने के देने पड़े।

दो दिन की सरफोड़ी पर एक रास्ता निकल आया। एक ऐसा अनुभवी शिकारी मिल गया जो इस फन का बेजोड़ था। उसने बीड़ा उठा लिया। हाँ, दो-चार महीने के बाद ही कोई तिथि नियत करने की ठहरी।

लीजिए, कुछ दिनों की खोज-बीन पर एक वैसे रॉयल टाइगर का पता मिल गया। फिर क्या, हफ़्ते में दो बार उसके पड़ोस में भेड़ या बकरा बाँध दिया जाता। घर बैठे ही उसे सजी-सजाई खुराक मिल जाती। आहार की तलाश में कहीं दूर भटकने की जरूरत ही न रही। और, पड़ोस ही में पहाड़ी झरने का बहता पानी भी था। बस, यही सिलसिला चलता रहा। और बेफ़िक्री की जिन्दगी क्या आई, उसकी मुश्कें बँध गईं। वह फँसकर रह गया अमारत की इस कैद में।

आखिर बेपसीने की कमाई के तर माल से बढ़कर इस जीवन में दूसरा मीठा जहर नहीं। श्रम गया, जीवन का अवलम्ब गया, क्रम गया। आराम आया, मौत का पयाम आया।

लाट साहब के आने का दिन निश्चित हो गया। पहाड़ों की तराई में चुने-चुने खेमे भेजे गए, साहबी खान-पान के सारे सामान भी।

तीन दिन पहले ही जिलाधीश के साथ पहुँच गए हम। उस तूफ़ानी दौरान का सारा कार्यक्रम निश्चित हो गया। उस शिकारी के साथ खुद जाकर शेर का परिचय भी ले लिया। गले तक ठूसकर भैंस के पाड़े का लहू पिये हुए औंधा पड़ा था बेखबर, खर्राटे भर रहा था। एक बार क़दमों की चाप की आवाज पर जरा-सा चौंक उठा, आँख और कान खड़े कर दिए, पर दो पल में ही वह प्रतिक्रिया आई-गई हो गई।

हमने इतमीनान की साँस ली। यह हजारों-हज़ार का खर्च बेकार न होगा, लाट साहब के सितारे जगमगा कर रहेंगे, शेर के शिकार की शुहरत उनकी होकर रहेगी।

लीजिए, आ गए सरकार। गोरे अफ़सरों का एक काफ़िला भी साथ आया। क्या हंगामा था वह, क्या तमाशा! उस पहाड़ी झाड़-जंगल के बीच साहबों की वह निराली आनबान जिसने कभी देखी नहीं, उसे यह लेखनी कैसे दिखा पाए कि क्या मौज, क्या चीज़ थी वह। हर गोरे अफ़सर के हाथ में राइफल, गले में छोटी-बड़ी गोलियों की पेटी, निराली काट के शिकारी कोट-पैंट और पैरों में डाशन के लम्बे-लम्बे बूट। चाय और काफ़ी की तो कहीं पूछ थी न पैठ। बस, बियर की बोतलों की कागें उड़ रही हैं और सिगार के धुएँ की कुण्डलियाँ इर्दगिर्द पेड़ों पर तितलियों-सी थिरक रही हैं बेजोड़।

शामियाने के इर्दगिर्द एक-से-एक हाथी खड़े हैं। किसी पर हौदा है, किसी पर झूल, किसी पर और कुछ। हाँ, ताड़ से ऊँचे एक हाथी पर हाथी की शक्ल की अमावरी कसी है—जी हाँ, अमावरी—वह भी हाथी-दाँत की। लीजिए, सीढ़ी के सहारे उस पर लाट साहब जा बैठे। बगल में उनका मिलिटरी सेक्रेटरी रहा। पीछे की सीट पर बैठा अपना वही जंगली शिकारी, जो देखने में तो ऐसा ही वैसा रहा, पर उसकी राइफल की चोट तो कभी चूकने से रही। उसे यह हिदायत रही कि लाट साहब की राइफल की नाल से गोली छूटी नहीं कि पिठियाठोंक उसकी गोली भी छूट रहे और ख़बरदार, वह तिल-भर भी दाएँ-बाएँ न मुड़े, बस, पल में शिकार को मौत के घाट उतार दे।

सारे गोरे अफ़सर बाकी हाथियों के हौदों पर बैठ रहे। हँकावा शुरू हुआ। दो घंटे तक इधर-उधर चक्कर रहा। किसी को कुछ मिला, किसी को कुछ—हिरन, भेड़िया या बारहसिंगा।

तभी लाट साहब का हाथी धीरे-से अलग उस जानी-सुनी मंज़िल की ओर मोड़ दिया गया। शेर तो अमारत के नशे में चूर था, पौ फटते ही अपनी मुँहमाँगी भर-पेट खा-पीकर सुख की नींद औंधा पड़ा था। ढोल-ढमाके की अंधाधुंध आवाज़ पर बेदार हुआ। खिंच आईं आँखें, खड़े हो

गए कान। वह चौंका, गुर्राया, पूँछ पटका, तड़पा, सामने आते हुए हाथी की सूँढ़ पर झपट कर कूदा भी। मगर वह छलाँग तो महीनों की अमारत की लत के तले अपनी चुस्ती खो चुकी थी, हाथी के पैर उखाड़ न पाई। लीजिए, उसी पल धड़ाम-से राइफलों की नाल से गोलियाँ छूट पड़ीं—एक, दो, तीन। शेर चीखा, चिंघाड़ा, ढेर हो गया।

अब किसकी गोली लगी, न लगी, कहाँ लगी—कोई बात नहीं। शेर के शिकार का सितारा तो लाट साहब के सर आया। वह जंगली शिकारी हाथी की पूँछ का पल्ला थाम कूद पड़ा। मरे हुए शेर को उलट-पुलट कर देखा भी। बोला—"कमाल कर दिया हुज़ूर ने। गोली तो कलेजे के पार हो गई।"

बस, लीजिए, लगीं मुबारकबादियाँ बरसने, वाहवाही की बौछारें भी।

खत्म हुआ वह तमाशा। तीर निशाने पर जा पड़ा। मुद्दत की मुराद, महीनों की मिहनत सफल हुई। सारा क़ाफ़िला लौट आया पड़ाव पर।

अब देखिए, लाट साहब के चेहरे पर खिली-खुली गर्वोल्लास की खुशियाँ, सुनिए चौतरफ़ी तारीफ़ की फुलझड़ियाँ—लन्तरानियाँ भी। सामने मेज़ों पर तरह-तरह की डिशें चुनी हुई हैं—एक-से-एक बोतलों की नेमतें भी, पर आप हैं कि न खा रहे हैं न पी रहे हैं, बस हँस-हँस कर लिए जा रहे हैं हर बड़े-छोटे की फड़कती ज़बान से बधाई की सजी-सजाई डालियाँ। वह झूम रहे हैं, इतरा रहे हैं, इठला रहे हैं, मुस्कुरा रहे हैं और रह-रह कर वह लच्छेदार बातें भी बना रहे हैं कि सुना करे कोई। लीजिए, सुनिए—उस खूँखार शेर की वह प्रलयी छलाँग, वह भीषण झड़प, जाने कितनों की जान पर आ गई होती कहीं तिल-भर भी निशान चूक जाता। खुदा का लाख-लाख शुक्र है, शुक्र।

क्या कहने आपकी इस निर्भीकता, इस निराली क्षमता के! बस, सारी महफ़िल की ज़बान पर यही चर्चा है, यही लासानी करिश्मा—यही गौरव-

गरिमा का ताना-बाना।

लाट साहब मुड़ आए हमारी ओर। झुक कर धीरे से बोले—"तुम्हारा एहसान तो हम भूलने से रहे।"

"भला हुजूर, हम क्या और हमारा एहसान क्या? यह आपके हाथों का कमाल है, कमाल!"

अब आप मोटर से कब हमारी पौर पर आए—अस्पताल के विकास में नई रूह फूँकने, क्या-क्या उनकी स्तुति-वन्दना—उनकी खातिरदारियाँ हुईं, क्या-क्या उनके दया-दान की मेहरबानियाँ आईं, फिर सारी रात हमारे बड़े हॉल के फ्लोर पर क्या-क्या डिनर-डांस की रंगीनियाँ रहीं, शैम्पेन का दरिया उमड़ा, उस किस्से में रखा ही क्या है—छोड़िए भी, जो दिन गए, गए।

[३]

"वक्त दो गुज़रे हैं मुश्किल हमको सारी उम्र में
एक तेरे आने के पहले एक तेरे जाने के बाद"

तो लीजिए, हमी जानते हैं जो हम जान रहे हैं कि क्या क्या सबील-क्या क्या दलील सर करनी पड़ी और क्या-क्या मुश्किल हल करनी पड़ी महाराजा बहादुर और गवर्नर के आने के पहले और फिर क्या क्या बिल चुकाने पड़े क्या-क्या दर्द सर उठाने पड़े उनके जाने के बाद।

हाँ, जमाना कुछ का कुछ है आज। अब तो न हिज हाइनेस के सर का तुर्रा है और न खिताबी सितारों का वह जलवा। अंग्रेज गए, वह राजा-महाराज भी गए। वह दुनिया ही बदल गई आज। नई ज़मीन है, नया आसमान।

आज जनता का राज है, जनतंत्र। यों कहने को तो उसी के सर सेहरा है, मगर उस सर के अन्दर आज़ादी की लहर जो आई हो, उस पर जिम्मेवारी की मुहर तो लगी नहीं। लगे कैसे? उसकी चेतना तो अभी जगी नहीं, रूढ़ियों लिहाफ़ में लिपटी पड़ी है बेखबर। उसकी अपनी ज़बान तो खुलकर भी खुल

नहीं पाती। खुले कैसे ? मताधिकार पाना और है, जिम्मेवार होना और।

... आज तूती बोलती है, गांधी टोपी की। लीडरी उसकी, शासन की बागडोर भी उसकी। न सही गंगा-जमुनी अमावरी, न सही कारचोबी की गद्दी, जब हाथ में सत्ता और शक्ति है तो फिर अमीरी की कुंजगली रही-रही, न रही न रही।

हमारे लीडर, हमारे मिनिस्टर भी कुछ वैसे जल-कमल नहीं। खादी के कुरते में भी चुन होती है, चुस्ती भी। उन्हें भी शीशे में उतार लेना कुछ आसमान से चाँद उतारना नहीं।

... और, हम अपने मुँह की लाली के लिए चाहते हैं कि वह खुश-खुश हमारी पौर पर आएँ, हम उनके चरणों पर भी अपनी श्रद्धाञ्जलि की डाली रखें। मगर वह आएँ कैसे ? कोई धार्मिक आयोजन या दरबारी राग-रंग की महफ़िल तो अब कारगर होने से रही, न शेर का शिकार ही हमारे रास्ते से रोड़ा चुन पाएगा। अब तो युग की हवा का रुख देखकर अपनी नाव पर पाल बदल देना है।

तो लीजिए, उनके अभिनन्दन के लिए तो अब किसी जन-सेवा का हीला चाहिए या किसी कलात्मक अनुष्ठान की योजना। माना कि उनकी कृपा तो कृपण होने से रही, मगर कहीं कृपा भी अहेतुकी हुई है या करुणा अकारण ?

उनके अन्दर भी वही हसरत है, वही लज्जत। और, इस रस की आसक्ति तो कुछ वृत्ति की विकृति नहीं, उसकी परिणति ही ठहरी अनूठी। तो परिस्थिति चाहे जो बदली हो, प्रवृत्ति तो सत्ता और ओहदा की दामन-चोली जो तब थी वही आज भी है। बस, हीरे की कलँगी हुई तो, हैट की हैकड़ी हुई तो या खादी की सादगी हुई तो, वह शुहरत की रसमस्ती के छलकते पैमाने बने के बने हैं निरन्तर। हाँ, अब सुराही नई चाहिए, प्याली भी नई—और, हो सकता है, गुलाबी भी नई। पर, रस के कोसर चाहे जैसे भी रहें—ऐसे-वैसे, वह रस की प्यास तो आज बीस ही ठहरी, उन्नीस नहीं।

अपनी-अपनी कसौटी

सुनते आए हैं कि बनमुर्गा से बढ़कर छनकट कोई पक्षी नहीं। उसका रोआँ-रोआँ जान रहा है कि हर दोपाया तो ठहरा उसके लहू का प्यासा— उसके गोश्त का आशना भी। ज़ाहिर है, आदमी के क़दम की चाप उसके कान में मौत की मुनादी बन कर आती है बराबर।

मगर लीजिए यही बनमुर्गियाँ हमारे बँगले के चमन की गुंजान झुर-मुटों में जाने कैसे कहाँ से आकर बस गईं—पता नहीं। हो सकता है, बरसों बँगले के अन्दर कोई था नहीं—मकान सुनसान रहा, चमन वीरान—बस, झाड़-झोंप के साये में इन चिड़ियों की बन आई—और खूब बन आई। अपना राज ही मिल गया जैसे।

माली और मजदूरों की टुकड़ी तो उनकी हेली-मेली ही ठहरी एक ढंग से। बस, अपने काम से काम। दिन-भर खुरपी या कैंची लिए वे मिट्टी खुरेदते या डाल छाँटते रहे। शाम आते-आते घर की राह लेते। बन-मुर्गियों की बेफिक्री रही। कहीं से कोई वार नहीं, कोई डर नहीं।

कोई बारह साल बाद एम० ए० की डिग्री लेकर जब हम घर वापस आए अपना घरबार देखने तो बगीचे की फुलवारी में चिड़ियों की यह निराली चहलपहल देखी। शहरी हवा-पानी में तो यह तमाशा कभी देखने को मिला

नहीं। हम अकेले भी तो न थे। जमींदारी शासन की बागडोर हाथ में क्या आई—लीजिए, हाली-महाली की जी-हुजूरी चल पड़ी। और, हुजूर के क़दमों में हाजिरी बजाने वाले बेबुलाये भी आकर हाथ बाँधे खड़े रहते।

वनमुर्गियों का माथा ठनका। इर्दगिर्द यह काफ़िला देख उनकी गति-विधि डावाँडोल हो चली। कहाँ वे झुरमुटों के बाहर आकर तालाब के किनारे चरती-चुगती फुदकती रहतीं, कहाँ आदमी की सूरत नजर आई नहीं कि फड़फड़ा कर झाड़ियों की गुफाओं में सिमट जातीं। वह मौज की मस्ती उड़ गई। वह किलक, वह पुलक भी लुट गया।

इधर यारों की टोली में जिज्ञासा पनपी, वासना भी। बस, जिसने देखी, अपनी नजर से देखी। कितनों के मुँह में तो पानी तक भर आया। अब लीजिए, सुनिये उनकी चुहचुहाती जबान से वनमुर्गी की बिरियानी की निराली लज्जत की तारीफ। मुर्ग का कोरमा भी उसके आगे फीका है, फीका। क्या तीतर, क्या बटेर—किसी के कबाब को वह लज्जत नसीब नहीं।

उनकी दलील रही—यह नेमत तो आदमी की बस्ती के आसपास कोई चिराग लेकर भी ढूंढ़े तो मिलने से रही। झाड़-जंगल में भी बड़ी खोज-बीन पर कहीं दिख गई तो दिख गई। मगर यह हुजूर के सितारे की बुलन्दी है कि यहाँ छप्पर फाड़ आप ही बरस आई जैसे। अब तो जल्द से जल्द जबान तर कर लेनी चाहिए। आखिर इनका एतबार क्या। कल बिस्तर समेट चलते बने तो रह जाएँगे हम हाथ मल कर।

अब हम क्या कहें? इनकार करते भी नहीं बना, स्वीकार करते भी नहीं बना। आखिर यही ठहरी कि अगले महीने जब हमारे मित्र मि० लाल लण्डन से वापस आते हैं तब उसी दावत में यह निराली बिरियानी पकाई जाय। तबतक उनके चरने-चुगने की स्वच्छन्द गतिविधि बनी की बनी रहे। कोई उधर झाँक न पाए, आसपास जाना तो दूर।

वे और हम

यारों की टोली में यह चर्चा चली कि, कैसे क्या किया जाय कि कोई बचकर निकल न सके। बन्दूक का निशाना न बनाकर जाल में फाँस लेना तो कहीं अच्छा हो। हाँ, उस फन का जानकार मिल पाता तो बेड़ा पार हो जाता।

अब और तो कोई उधर जाने से रहा, एक हम जब जी मचला, उनका पता पूछने कभी खिंच आते। यह सिलसिला जो चला तो लीजिए, रमते-रमते जी रम गया। वे भी, जानते-जानते हमें जान गईं, पहचान गईं। कहाँ जो जरा-सी आवाज पर फुर्र-से जाने किधर सरक जाती रहीं, कहाँ अब बेधड़क आमने-सामने आने लगीं। आते-आते आने लगा उनकी आँख में विश्वास, उनकी बोली में मिठास भी।

उस दिन एक हजरत आए अफीम में पगी मीठी गोलियाँ लिए और खड़े-खड़े बड़े तपाक से नजर कर बैठे।

"क्या भई, यहाँ क्या?"

तो आप बड़े अन्दाज से समझा गए कि आज रात इन्हें झाड़ियों में इधर-उधर बिखेर दिया जाय। चिड़ियाँ चुगते-चुगते नशे में चूर हुईं नहीं कि आपकी मुट्ठी में आ गईं।

हमने कहा, "बड़ी इनायत। लाइए गोलियाँ दीजिए।" हमने उनकी खातिर गोलियाँ रख लीं।

मगर भई, ज्यों-ज्यों वे हमसे निडर होती गईं, ठुमकती-फुदकती हुई निकट आती गईं त्यों-त्यों हम भी जाने-अनजाने उनकी ओर खिंचते गए। कैसे क्या हुआ, क्या कहें। हमारी नजर ही बदल गई, हमारा रुख ही पलट गया। आखिर "दिल ही तो है न आये क्यों?"

तभी वह हजरत एक दिन फिर आए अपनी नशीली गोलियों की आजमाइश का पता पूछने।

हमने कहा— 'नशा पिला के गिराने तो सबको आता है,
मज़ा तो जब है कि गिरते को थाम ले साकी।'

"शुभान अल्लाह! क्या बात कही है हुजूर ने।"

"क्या समझे आप?"

वह लगे आँखें फाड़ हमारा मुँह जोहने।

"नहीं समझे? भई, अब यह ज़बान की चीज़ न रह कर हमारे मान की चीज हो रही है।"

"भला हुजूर, ऐसी भी क्या चीज है यह। चमन की रौनक तो होने से रहीं।"

"यह न कहिए, हमारे चमन की यही बुलबुल ठहरीं। अब तक तो इस गुलशन में, गुल ही गुल रहे, अब यह बुलबुल भी आ गई।"

लीजिए, जो एक दिन शिकार में शुमार थीं वह अब प्यार की हकदार हो गई। उनका गला घोंटने के पहले हमको अपना दिल घोंटना होगा।

तो क्या हमें अपने बीच पाकर ये पक्षी अपने विपक्षी का त्रास भूल गए?

यह कौन था जो हमारे लिए उनके दिल में आस्था भर गया और उनके प्रति हमारे मन में ममता? वह कौन, हम कौन—फिर बीच में यह कौन, जो बीच की खाई को पाट कर मनुष्य और पक्षी को एक कर गया? आदमी की परिछाईं देखकर उड़ जानेवाली चिड़ियों को एक दोपाये से कोई शंका नहीं, कोई आशंका नहीं; और मुर्ग बटेरों के गोश्त का जायका सराहनेवाले एक मनुष्य के मन में उन वनमुर्गियों से यह आत्मीयता!

और, इस सवाल का जवाब क्या यह गलत होगा, अगर कोई कह दे—यह है 'विश्वास?'

तो लीजिए, देव हो या मनुष्य, मनुष्य हो या पशु, पशु हो या पक्षी, विश्वास और विश्वासघात की क्रिया और प्रतिक्रिया सभी पर है बराबर।

वैसे आदमी आदमी का दोस्त भी होता है, दुश्मन भी। मगर दोस्ती और दुश्मनी का दायरा कुछ आदमी तक ही सीमित रहे, यह कोई नियम नहीं। प्रेम और वैर की न्यामत और मलामत सब जीवों को बराबर मिली है। हाँ, आदमी की बुद्धि की क्षमता और हृदय की ममता चाहे तो दुनिया के हर जीव को अपना बना ले।

कोई दस दिन बाद। आफिस से लौटते कुछ देर हो गई। चमन में टहलने जो आए तो आज फूल ही फूल नजर आए, वह अपनी बुलबुल नहीं। झुरमुटों में एक नजर भी आई तो नजर पर ठहरी नहीं। पल में जाने कहाँ गुम हो गई!

हैं! यह कैसे क्या गुल खिल गया, यह नया रवैया? पूछताछ शुरू की तो पता चला कि जलील साहब डिप्टी इसी ओर कहीं दौरे पर जा रहे थे। दुपहरी की बेला, कोई आध-घंटे के लिए यहाँ ठहर गए। चमन में थोड़ी देर टहलते भी रहे। हाथ में एक छड़ी थी, बस। अजब नहीं, आसपास की किसी फुदकती हुई बनमुर्गी पर हाथ साफ कर बैठे। उनके हाथ तो आई नहीं वह मगर चोट खा गई हो तो अचरज क्या? उन्हें क्या पता कि इन बनमुर्गियों की क्या कीमत है हमारी नजर में!

तो लीजिए, टूट गए वह मीठे सपनों के झूले। आ गए हम ठोस धरातल पर! कहाँ हम उठे थे उन्हें अपनाने अभय देकर, स्नेह देकर, अपना विश्वास देकर, 'कहाँ वह चमन ही लुट गया जिसमें बहार आने को थी!' और वह सेतु क्या टूटा, हमारा दिल ही टूट गया जैसे।

× × ×

लौट आए मिस्टर लाल लण्डन से। दावत की अच्छी चहल-पहल

रही। पर यारों की वह मुँहमाँगी बिरियानी तो दस्तरख़ान पर आई नहीं। आए कैसे! बनमुर्गियाँ तो उसी दिन से झाड़ियों की गुफाओं से ऐसी गुम हो गईं कि दरबारियों के दीदार के दायरे से दूर जा पड़ीं। सकुचाते-सहमते दबे पैरों कभी बाहर भी आईं तो यह आईं और वह गईं।

हाँ, उस चमन की चहारदीवारी के बाहर नहीं गईं। किसी और को यह पता भले ही न हो, हमसे तो यह राज परदा न था। और बाग के माली को भी यह ताकीद थी कि किसी पर खुले नहीं। हमारी उम्मीद की वह पतली लौ तो बुझने से रही। हमारे दिल के अन्दर, जब कोई कदूरत नहीं, अदावत नहीं तो फिर स्नेह और सत्य की विजय होकर रहेगी—देर चाहे जो हो।

हाँ, लाल पर हम जरूर खुले। वह भी हाथ बटा पाते तो यह मुश्किल हल हो पाती। इन चिड़ियों की चाह के वह क़ायल तो जरूर थे पर जी खोल साथ दे न पाते रहे। उनकी दलील कि हमारी तो यह रहने से रहीं तो फिर ऐसे 'मेरे के घेरे' में जाने से फ़ायदा?

लण्डन में एक ऐसी हेलीमेली छोड़ आए•••साथ ला न सके—वही लौ आज भी•••

"अच्छा! क्या छोड़ आए हैं आप? सुनूँ भी।"

"है एक विलायती कुतिया। दो साल वह साथ रही। जी रम गया। चाहते रहे साथ लाना। ला न सके। गर्मियों में लाना खतरे से ख़ाली न था।"

"तो फिर!"

"देखिए, जब चाह है तो कोई राह होकर रहेगी।"

३

लगा जैसे आदमी ही आदमी का काल बन गया। लीजिये, पल में

आदमियत का अकाल पड़ गया। दुनिया से हया तक उठ गई—दया तो दूर।

वाह रे धर्म और वाह रे तेरा यह दुष्कर्म ! कहाँ तू आया था हमारे अन्दर भगवान को जगाने कहाँ झँझोर कर उठा दिया शैतान ! ऐसा गिर गया तू ?

भला धर्म और पक्षपात ? धर्म और रक्तपात ? ऐसा अनर्थ, ऐसा अत्याचार ? लीजिये धर्म के नाम पर पाप को खुल खेलने की छूट हो गई। जो है, अपने दीन का दीवाना बना है।

हाय राम ! क्या आज कोई भी धर्म अपने धर्म—अपने मर्म पर रहा नहीं ? पीर, पुरोहित और प्रीस्टों ने उसे एक सम्प्रदाय का जामा पहना कर, अपने स्वार्थ, अपने हाथ का कठपुतला बना रखा है बेजोड़। जभी तो अंध-विश्वास हावी है विवेक पर, विधि-निषेध अभेद पर। कहाँ समदृष्टि ही उसकी धुरी ठहरी, करुणा ही उसकी प्राणधारा !

ऐसा हिन्दू-मुस्लिम दंगा तो हमने कभी देखा न सुना। एक ज़रा-सी लुत्ती आई और देखते-देखते वह दावानल-सी भभक उठी। किसी कड़ियल अफ़सर ने कहीं गोकुशी करा दी। और बस लीजिए, एक गाय की हत्या के प्रायश्चित्त में हजारों आदमियों की हत्या धर्म की हत्या होने से बचाने के लिए अनिवार्य हो गई ! क्या तमाशा है ! इंसान की जितनी हत्या होगी, भगवान के मान की उतनी ही रक्षा होगी जैसे !

आज कहीं मंदिर के हाते में गाय की पसली मिल जाती है, कहीं मस्जिद के घेरे में सुअर की जाँघ। यह किसी कौए की कला हो या कुत्ते की करामात—आदमी के हिस्से तब एक ही बचाव अपनी धर्म-रक्षा या मजहबी पाबन्दी के लिए रह जाता है और वह यह कि वह हिन्दू हो तो

मुसलमानों की और मुसलमान हो तो हिन्दुओं की बूते-भर हत्या करे।

कहीं गाय की कुर्बानी का मसला पेश है, कहीं मस्जिद के सामने बाजे बजाने का सवाल पैदा है और इन सवालों को लेकर बाल की खाल निकाल जो बवाल पैदा किया जाता है उससे मजहब और धर्म एक जाल और जीवन जंजाल बन गया है।

तो क्या हम जबतक किसी एक मजहब के हैं, हम सबके नहीं हो पाते, अपने रब के भी नहीं हो पाते—वह रब, वह ईश्वर, जो हर का है बराबर, किसी दल का नहीं।

हमारे पड़ोस में मुसलमान तो इने-गिने ठहरे, उन बेचारों की जान जाने को आई। हमने कहा कि बला से विधर्मी हों नहीं, पर अपने यहाँ के आश्रितों पर कोई आँच न आने देंगे हम। यहाँ तो किसी मियाँ के फरिश्ते को भी खबर नहीं कि कहाँ क्या कुरबानी हुई—किसके चलते।

अब जो मुसलमान शरणार्थी हमारी पौर पर आए उनके साथ विश्वासघात तो इस गरीब से बना नहीं और आदमी के साथ आदमी का विश्वासघात न करने का यह अपराध हमारे लिए दिन-रात का आतंक हो गया। धर्म-धुरन्धरों की आँखों के काँटे हो रहे हम।

जिन लोगों को आसरा देकर आश्रय दिया उनकी हिफ़ाजत के लिए तार पर भी जब कोई पुलिस-पलटन न आई तो ख़ुद रातोरात मोटर से ४० मील दूर जिलाधीश की कोठी पर जा पहुँचे। मगर वह तो दौरे पर जाने कहाँ चक्कर काट रहे थे—भेंट न हुई।

तभी पता चला, गोरे तो हमारे यहाँ आज जा चुके। बस, उलटे पाँव लौट पड़े हम।

लीजिए, उनके आते ही पलट गई वह हवा। डर आया—आ

गया आदमी आदमी के लिबास में। वही आदमी, जो कल तक मजहबी जोश में अंधाधुन्ध जानवर की खाल में उतर चुका था।

वह गोरे सिपाहियों की छोटी टुकड़ी ठहर गई हमारे बँगले पर। उनके अफ़सर रहे 'कैप्टेन डिक्सन'। उन दिनों उनकी खातिरदारी आसान न थी। और तो और, उनके पीने की चीज़ यहाँ देहात में कहाँ मिलती? और बेग़ैर शीशे की परी के होंठ चूमे रात के डिनर की मेज़ पर आने से रहे वह। कप्तान साहब के लिए तो खैर, उनकी पसन्द की चीज़ जुगानी ही पड़ी जैसे-तैसे, मगर गोरे सिपाहियों की वह अपनी मुँह लगी हाथ न आई तो बाज़ार की सौंफ़ी आई उनका गला तर करने।

दिन भर तो अपनी ड्यूटी की पाबन्दी—गाँव-गाँव की मटरगश्ती रहती। शाम आते-आते वह लौट आते थके-मांदे पसीने में चूर। बस, पीते-खाते, ताश खेलते, कभी कुछ पढ़ते-लिखते भी।

डिक्सन शिकार के शौक़ीन निकले। हमने कहा—अच्छी बात है। परिन्दों की तो छूट है यहाँ, क्या बत्त और टील, क्या कबूतर और हारियल बस, फ़ुरसत की घड़ी, यही मौज रहे—रात के डिनर की मेज़ पर उनका 'रोस्ट' भी।

डिक्सन का चेहरा खिल उठा। चट उठा लाए अपनी बन्दूक, लगे उसे साफ़ करने। पर, लीजिए, जाने क्या ऐसी प्रतिक्रिया की लहर आई, गिर गया चेहरा, छूट गई हाथ से बन्दूक भी।

"न भई- अभी तो कुछ दिन 'क्लोज़ सीज़न' (Close season) है, चिड़ियों का शिकार तो अपनी दस्तूर नहीं।"

"कोई बात नहीं। अभी तो एकाध महीने रह रहे हैं आप यहाँ—है न?"

"चाहिए तो, देखो। हाँ भई, चीता या तेन्दुवा कहीं क़रीब पहाड़ी की तराई में..."

"जी, वह दिल्ली अभी दूर है। इस खोज-बीन के लिए काफ़ी वक्त चाहिए।"

"छोड़ो भी, तुम्हारी हरी-भरी फुलवारी...तुम्हारी लाइब्रेरी की ही छानबीन रहेगी—और खूब रहेगी। यह और वह—दोनों।

कोई दस दिन बाद। शाम की चाय पर हम तीन रहे—कैप्टन डिक्सन, मि० लाल और हम। आज लाल फिर अपनी विलायती कुतिया की चर्चा छेड़ बैठे। चाह रहे थे कि डिक्सन अपने भाई को लंडन में खत लिख दें कि कुछ दिन वही उसे अपनी देख-रेख में रखें।

तभी डिक्सन बीच ही में कूद पड़े—"हाँ जी, आज हमने एक नई चीज़ देखी यहाँ—अजीब-सी एक चिड़िया।"

"अच्छा, सच ?"

"जी—उन झाड़ियों के झुरमुट में। तुम्हारे लाल तो कहते रहे कि यह एक नई खोज है तुम्हारी। हमने तो कभी यहाँ ऐसी खूबसूरत, ऐसी जानदार..."

"तो आपके सामने फुदक आई आज ? हम तो निराश हो चुके थे—जैसी क़िस्मत..."

"यह क्या कह रहे हो तुम ? दस दिन में उन्हें अपना लेंगे हम। यह कला तो आते-आते आती है। तुम्हें शायद पता नहीं।"

२

उस दिन ऑफिस से चार बजे लौटकर आए तो डिक्सन की सूरत कहीं नजर न आई। लाल अकेला आरामकुर्सी-पर लेटे हुए सिगार का कश ले रहे हैं।

"क्यों भई, डिक्सन को नहीं देख रहे हैं आज! चाय पी चुके क्या?"

"अजब नहीं उधर झुरमुट में अपनी कला आजमाते होंगे!"

"चलो अच्छा ही हुआ। बनी रहे यह दिलचस्पी!"

हम उधर तालाब के उस पार गुंजान झुरमुटों के अन्दर जा रहे। कोई बीस गज गए होंगे कि लीजिए, आँखें टँग गईं, कान खड़े हो गए, देखा और देखते ही रह गए।

वही वनमुर्गियाँ—हाँ, उनके आस-पास फुदक रही हैं वनमुर्गियाँ। कैसी हेलीमेली, कैसी चरफर-चुलबुल! आप हैं कि उन्हें खेला रहे हैं, कुछ खिला रहे हैं और एक अजीब-सी बोली बोल उन्हें फुसला-मिला भी रहे हैं एक ढंग से।

हमारे कदम की चाप पर वह पासवाली फुर्र-से उड़ गई। जा रही उन बीहड़ झुरमुटों के अन्दर।

हम तो दंग! क्या जादू कर दिया इस अंग्रेज के बच्चे ने! हमारी यह

न हुईं और उनकी हो गईं बैठे-बिठाये! यह मिलाने का फन तो कोई इनसे सीखे!

लीजिए, यह सिलसिला चलता रहा। हमने उन्हें बधाई दी—शाबाशी भी।

आपकी यह लगन बनी की बनी रही। हम तो दिन में ऑफिस चले जाते। लौटते देर हो ही जाती। आप हैं कि शाम को चाय तक उधर कुरमुटों में ही उन्हें लिये रहते हैं। कहीं ड्यूटी की पाबन्दी बाहर भी जाना रहा तो तीसरे पहर तक वापस आ गए।

हमने भी सोचा, चलो रास्ता तो साफ़ हो गया। क्या ही अच्छा हो, हम भी उनके साथ हो रहें। जानते-जानते वे हमें भी जान लेंगी, पहचान लेंगी। आखिर डिक्सन तो कोई घड़ी के मेहमान ठहरे। फिर वह कहाँ और ये कहाँ! हमसे तो रिश्ता अटूट रहेगा और मजाल नहीं कि कहीं से उस पर कोई आँच आए।

मगर शुदनी वक्त, एक जरूरी तार पाकर हमें पटना जाना पड़ा। एकाध दिन में लौट आने का प्रोग्राम रहा, मगर कुछ ऐसी उलझनें आती गईं कि दस-बारह दिन गुज़र गए।

लौटते रात हो आई। मोटर से उतर सीधे अपने कमरे में गए। हाथ-मुँह धो जब बाहर आए तो पता चला कि डिनर मेज़ पर आ रहा है और डिक्सन साहब हमारे इन्तज़ार बाहर खड़े हैं। आज रात ही में डिनर के बाद वह क़ाफ़िला लौट रहा है मिलिटरी मोटरों से—चारा नहीं।

आ गए हम डिनर की मेज़ पर। दायें डिक्सन, बायें लाल। सामने की मेज़ पर गोरे सिपाही भी बैठ गए। पीने का दौर चला, खाने का कोर्स भी। सूप आया, मछली आई—लीजिए, रोस्ट भी आ गया।

"हैं! यह तो 'मटन' नहीं, 'फाउल' है क्या?"

तभी डिक्सन हँस कर बोले—"पहचान रहे हो? तुम्हारी ही अपनी चीज़ है यह!"

"सो क्या?" हमारा माथा ठनका।

"वही वनमुर्गियाँ! आज ज़िन्दगी में पहली बार...."

"क्या कहा? वनमुर्गियाँ?" काटो तो लहू नहीं। तन गया चेहरा, खिंच आईं आँखें, छूट गया हाथ से काँटा।

"भई वाह, क्या मज़ेदार!...लो, तुम खा नहीं रहे हो? क्यों, वह Close season तो अब रहा नहीं। उनके बच्चे तो फुदकने भी लगे।"

"माफ़ कीजिए, आप तो कुछ और ही हो रहे हैं आज!—नहीं?... भला आप यह कैसे....अपने हाथों..."

"कोई बात नहीं, जब तक यहाँ थे, उनके किलक-पुलक से जी बहलाया। अब तो कूच का डंका है। फिर वापस आना नहीं। सोचा, इनके कोरमा का भी मज़ा लेते चलें...हाँ, ले-दे के कुल सात ही तो..."

"कमाल कर दिया आपने! कल तक यही कैसी अपनी रही...."

"तो क्या हुआ?"

"क्या नहीं हुआ? यह गला मिलाते देर न गला घोंटते!

'छोड़ो भी, वह तो चिड़िया ठहरी—खाने की चीज़। गला मिलाते देर न गला घोंटते—यह तमाशा तो देख रहे हैं हम इसी मुल्क में। भाई को कसाई होते देर नहीं होती। यह हिन्दू-मुस्लिम दंगा है क्या? पल में बरसों की मुहब्बत का गला घोंटना। कल तक वही पड़ोसी, वही हमजोली कैसा अपना रहा!"

"यह क्या ले उठे आप? यह मजहबी जोश का नशा तो आदमीयत का दिवाला ठहरा। क्या बुद्धि और क्या हमदर्दी—दोनों ही घुटने टेक देता

हैं। लीजिए; पल में इंसान हैवान हो गया। यूरप में भी यह तमाशा बरसों हो चुका है।···हमें अचरज तो यह हो रहा है कि कलतक जो विचारी आपका दुलार-पुचकार पाती आई···"

"सुनो भाई, हमारे साथ किसी सेंटिमेंट—कोरी भावुकता की कोई कीमत नहीं। हम ठहरे ठोस दुनियादार आदमी। अपने काम से काम। तुम्हारे दोस्त मि० लाल का दिल हम कहाँ से लायें? लंडन में आपकी पालतू कुतिया रह गई। साथ ला न सके। साथ होने की भी नहीं अब। मगर यह हैं कि लौ लगी की लगी है। महीने-महीने जाने कितना···"

हम प्रश्नभरी दृष्टि से उन्हें देखते रहे।

"हमारे लहू में तो कोई ऐसी आसक्ति नहीं। कुत्ता पालते हैं, खिलाते-पिलाते, सुलाते तक हैं साथ। कोई वैसा अपना स्वार्थ नहीं। खाने की चीज़ भी नहीं वह। अगर कहीं आपस की लड़-झगड़ में वह बुरी तरह लहू-लुहान हो गया तो चट उसे गोली से उड़ा देंगे। घुट-घुट कर मरने न देंगे। यही अपनी करुणा ठहरी—समझे?"

"मगर यह बिचारी मुर्गियाँ तो कहीं चोट खाई न थीं!"

"सुनो भई, मुर्गियाँ हम भी पालते हैं, अपने हाथों उन्हें अच्छा-से-अच्छा दाना खिलाते हैं। उनके अंडे तुम देखते तो कहते। वैसे तो यहाँ मिलने से रहे। हाँ, कोई वैसी दावत हुई तो लीजिए, उनका शोरवा पका लिया—उनका कोरमा भी। मगर यह नहीं कि मियाँ-मुल्लों की तरह उन्हें ज़बह करें। गला नहीं रेतते कि वे बिस्मिल तड़प-तड़प कर जान दें। बस, पल में काम तमाम कर दिया, न चीख़ न तड़प।"

"तो फिर तड़पने की आरज़ू तो उनकी रह ही गई!" हमने हँसकर कहा।

"सो क्या ?"

"आपने सुना नहीं ?"

"जिबह करता है तो पर खोल दे मेरे सैयाद,
रह न जाए तड़पने की आरज़ू दिल में।"

"क्या खूब ! यह शायरी भी अजीब है। मगर हमारे यहाँ तो यह चलने से रही। किसी चिड़िये को पिंजड़े में बन्द करें, उसका पर कतर लें या तुम्हारे दोस्त डिप्टी की तरह उस पर छड़ी की चोट कर बैठें, यह अपनी लत नहीं।"

"तो आप जान रहे हैं जलील साहब की कारगुजारी ?..."

"जानते नहीं, एक विचारी फुदक न पाती रही—पाती कैसे ? चोट जो खाई हुई थी। हमसे जो बन पड़ा किया। तुमने सुना ही होगा, mating period में किसी पशु या पक्षी का शिकार हमारे यहाँ एक जुर्म में शुमार है। बन्दूक की लाइसेंस देने के वक्त भी यह ताकीद बराबर ही रहती है। यह हो नहीं सकता कि कोई अंग्रेज close season में किसी चिड़िये पर बन्दूक तान बैठे। तुम्हारे यहाँ ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं—क्यों, और तुम बनते हो बड़े वैसे..."

"अच्छा कह रहे हैं आप ! हमारे यहाँ तो अहिंसा ही बड़ी चीज ठहरी !"

"खूब ! यह बारहमासी Close season ? रही यह कि कितने अमल कर पाते हैं इस पर ? चन्द इने-गिने, बस—है न ? उधर Overwhelming majority की छुट रही। तुम्हीं देखो, यह अहिंसा तो कोरा आदर्श है, किताबी—कभी प्रेक्टिकल—व्यावहारिक नहीं। हजारों खूंखार कीड़े-मकोड़े, मच्छर-खटमल—जाने क्या-क्या हैं हमारे हवा-पानी में। उन्हें

ज़िन्दा छोड़ देना तो अपनी ज़िन्दगी से हाथ धोना है। मलेरिया, कलरा के कीटाणु भी तो जीव ही ठहरे—जड़ नहीं।...मैं पूछता हूँ, तुम्हारी गोसेवा ही क्या है?—एक चकमा, बस। क्या गाय-बैल, क्या घोड़ा-गधा—कैसी पतली हालत है यहाँ उन ग़रीबों की? हड्डियों के ढाँचे रह गये—ढाँचे! जभी तो Prevention of Cruelty to animals—यह कानून बनाना पड़ा यहाँ। कहाँ गाय तुम्हारी माता या देवता में शुमार ठहरी। मगर वह एक भी गो-माता किसी विलायती गाय की ऐसी हरी-भरी हमने देखी नहीं। और लो, हम हैं कि गाय का गोश्त भी शौक से खाते हैं।"

तभी लाल हँस कर बोले—"आप भी खूब हैं। क्या-क्या नहीं खाते हैं? शायद ही किसी पशु या पक्षी से इनकार हो!"

"कैसे नहीं खायें? हमारे यहाँ अन्न की कमी भी जरा वैसी ठहरी। मगर किसी पशु या पक्षी के साथ जीते-जी बेरहमी से पेश आना, कोल्हू के बैल की तरह उन्हें तिल-तिल पिसते देना हमारी मान्यताओं को कभी गवारा नहीं। हमारी निगाह में उनकी नस्ल है, उनकी जाति। कोई खास पशु या पक्षी नहीं। यही वजह है Close season की मनाही की।"

"गुस्ताखी माफ़! आखिर यह क्या अन्दाज़ है! Close season में जिनकी ऐसी खातिरदारी, खुले मौसिम में उन्हीं के गले पर छुरी या गोली? और यही रवैया कहाँ नहीं? क्या मुर्ग, क्या गाय—खिलाते-पिलाते रहे, वह अच्छे-से-अच्छे अंडे दे, मनों दूध दे। मगर लीजिए, कहीं जी मचला तो धड़ल्ले से खाने की मेज़ पर....."

"और कुत्ते, घोड़े जाने कितने ऐसे हैं भरे-सँवरे—वह तो खाने की मेज़ पर आने से रहे।"

"कुत्ते तो पहरे के लिए हैं, घोड़े सैर-सपाटे के लिए—है न? तो

लीजिए क्या पुरुषार्थ, क्या परमार्थ—उसकी तह में तो है अपना स्वार्थ। वही एकछत्र ठहरा।"

"अजी, अपना स्वार्थ तो कोई चीज ही नहीं हमारे यहाँ। किसी 'मेरे' के घेरे के अन्दर तो भरसक आने से रहे हम। परिवार से भी कोई वैसी ममता नहीं, अटूट रिश्ता नहीं। और, तुम हो कि हजारों वनमुर्गियाँ Close season में पिट रही हैं, उनकी नस्ल तक मर-मिट रही है—तुम्हें क्या? बस, जो दो-चार तुम्हारे चमन के आँगन में आ गए उनमें कौन ऐसे लाल जड़े हैं कि तुम्हारा जी मचल उठा? यह मोह-माया नहीं तो क्या है? हमारे यहाँ तो एक राष्ट्र का स्वार्थ स्वार्थ है—यही अक्ल का तकाजा ठहरा। हमारे हवा-पानी में जयचन्द और मीरजाफर तो कभी पनपने से रहे।"

"जी। आपके पास सब कुछ है—अक्ल है, इल्म है, जर है, छल, बल, कौशल—क्या नहीं? बस, एक दिल का पता पाना।···"

"अजी, उसका पता तुम लाल से पूछो। वह लंडन से होकर आए हैं। कैसी समता, कैसी सहृदयता भरी है विलायती कल्चर के ताने-बाने में। हाँ, वह दिलदारी कुछ बहकी-बहकी नहीं, बुद्धि की निगरानी में ही·····"

"ऐसे आप जो कहिए, पर पल में अपने हेली-मेली से यों आँखें बदल देना तो हमारी निगाह में एक ऐसा Gross betrayal—विश्वासघात है···जाने दीजिए, क्या कहे कोई?"

"तुम नहीं मानते—न मानो। यह तो अपनी-अपनी नजर है। आखिर मौत से तो किसी की मुक्ति नहीं। फिर उसका रोना क्या? हसरत तो है उस जिन्दगी पर जो जीते-जी मौत बन गई है। हाँ, तुम्हारी नजर में इन वनमुर्गियों का यह निराला मान है, तुम्हारी ममता की मुहर है उन

पर—हमें वैसा पता न था। क्या न, हमने तो देखा कि अब हम जा ही रहे हैं…"

"माफ़ कीजिए! आखिर तो अंग्रेजों को एक दिन इस देश से भी बिस्तर समेटना ही होगा—तो फिर क्या…"

हम बीच ही में रुक पड़े। बात वहीं अधूरी ही छोड़ दी। लगा कि यह झोंक में कैसे क्या कह गए हम! देखा, डिक्सन का चेहरा खिंच आया। लपट पड़ी आँखों में एक लौ। कुर्सी छोड़ उठ खड़े हुए वह। एक रूखी-सी हँसी भी छिटक आई होठों के इर्दगिर्द—"ऐ लो! कहाँ से कहाँ उठ आये तुम! जैसे कि हम यहाँ जाने ही के लिए…जाने भी दो, देखा जायगा उस वक्त का तकाज़ा क्या है। आज क्या कहे कोई?…हाँ, भई, चले अब। तुम्हारी खातिरदारी तो भूलने से रहे। गुडनाइट!"

और वह खड़े-खड़े हाथ मिला बैठे। गोरे सिपाहियों को लिए उसी ताव में जैसे-तैसे चल दिए।

सुबह जो उठकर देखा तो वनमुर्गियों का कहीं पता नहीं। रात ही में कब, कैसे, कहाँ उड़ गईं—हम क्या कहें, कैसे कहें?

जाने कितने साल होने को आए, जो गईं सो गईं।

ताने-बाने

"अरे चलो यार! आज तो मुँहमाँगा इनाम पायेंगे!"

"जियो लला, जियो-जियो लला!"

"तू तो निहाल हो गई चुनिया!—ले, मालकीन की अपनी बाँदी जो ठहरी!"

"वही तो सोच रही हूँ, क्या माँगूँ, बोलो! बनारसी चुनरी, लाल कुर्ता···"

"दुत् पगली! यह भी कोई माँगने की चीज़ है? अरे, झूमर माँग, कनफूल माँग····।"

तभी बरामदे से मालिक की खिली-खुली आवाज़ आती है—"बोल, क्या लेगी चुनिया! झुलनी चाहिये न—झुलनी?"

"भला सरकार! यह मुँह और मसूर की दाल?—ऐसी कीमती चीज़?" टोक बैठे दीवान जी।

"बस, लल्ला फूले फले—हमें और चाहिये क्या?" चुनिया शर्माई हुई बोली।

दरबार के हवा-पानी में पली चुनिया दरबारी जवाब दे बैठी। और,

मालकीन की जैसी मीठी नज़र है उस पर, वह मुँह खोल अपना पानी क्यों खोये ?

इधर रायसाहब हैं कि उमड़ा आ रहा है दिल—फड़क रहा है रेशा-रेशा। क्या कहने उनकी खुशियों के।

यह कुल-उजियार बेटे के जन्म का जादू है कि जगमगा उठी उमीदों की एक नई दुनिया, झिंझोड़ कर जगा दिया उसने कामना के सोये हुए वलवलों को।

आज तो जैसे इन्द्रपुरी का जशन उतर आया है उनकी ड्योढ़ी पर। जो है, जहाँ है—इठला रहा है, इतरा रहा है बेजोड़। भीतर हवेली में सोहर गानेवालियों की भीड़ लगी हुई है और बाहर दरवाजे पर मुबारक-वादियों की डाली सजाये पिली पड़ती है हाली-मुहाली की टोली। एक अजब अदा से—एक सधे-बदे सलीके से—सलामियाँ दग रही हैं। और, रायसाहब हैं कि बधाइयों की बौछार में नहाये निहाल हुए जा रहे हैं—सींचे जा रहे हैं अपने चालीस साल के सहेजे शरीर का रोआँ-रोआँ।

बुलावे पर पहुँचा तो महफिल जम चुकी थी। बनारसी गानेवाली की सुरीली काकली आसमान चूम रही थी। क्या लोच और क्या लय—एक प्रलय उठ आया जैसे उस गले की लावण्य-लहरी पर। और, फिर रूप की वह अपरूप झाँकी कि इन्द्रपुरी की परी भी भूपरी आये घुटने टेकने उसके आगे। उमड़ रहा है दिलदारों का बेताब दिल। झूम रही है मदहोशी की मस्ती में वह सारी महफिल। वह राग-रंग, वह रंग-ढंग कि क्या आँख, क्या कान—पिये जा रहे हैं उस रस के कौसर को जी उँड़ेल।

तभी मिल गये रायसाहब के पड़ोसी समीर बाबू। बोले—"कहिये, कैसा रहा जशन ?"

"खूब,-खूब। आखिर चालीस के सिन में बेटे की पैदाइश कुछ ऐसी-वैसी खुशी भी तो नहीं। भला, बेटा ही न रहा तो फिर इस जिन्दगी का बेड़ा पार होने से रहा--क्या लोक और क्या परलोक।"

"मगर रायसाहब तो निर्वंश नहीं।"

"क्या सच? हम तो समझे, यह पहली फ़सल है।"

"अजी, पहली फ़सल कैसी? एक बेटा और दो बेटियाँ तो कभी की आ चुकी हैं।"

"यह बात? तो तीन के बाद भी यह वधावा—यह हजारों का हवन? आखिर ऐसी क्या नई खुशी...?"

"खुशी नहीं—खुशी की तह ढूँढ़िये, तह। भला एकाध का क्या भरोसा आज के जैसे दिन में? अब तो इतमीनान है, लोक और परलोक दोनों ही सँवर कर रहेंगे। और, माद्री की कोख से भी तो एकाध चाहिये न।"

"सो क्या?"

"अजी, यह रायसाहब की नई बीवी ठहरीं—समझे?"

देखा, गोरे अफसरों की भी एक कतार है अलग। होठों में, सिगार है—हाथ में ह्विस्की का ग्लास और आँखों में कुतूहल है, उल्लास भी।

हमारे मित्र मि० ब्राउन भी वहाँ मौजूद हैं। हाँ, मिसेज़ ब्राउन नजर नहीं आईं। आज क्या है कि उनको नहीं देख रहे हैं—वह तो हिन्दुस्तानी नाच-गान के जलसे में बराबर आती रहीं। उनकी तरहदार अदाओं की हल-चल तो हर ऐसी महफिल में नई जिन्दगी बिखेर देती। हो-न-हो, 'चेंज' के ख्याल से मसूरी गई होंगी।

आखिर हम पूछ ही बैठे—"श्रीमती जी मसूरी जा चुकीं क्या?"

"नहीं तो, अस्पताल में हैं वह—दो दिन होने को आए।"

"क्यों, ख़ैरियत तो है ?"

"यही पहला कदम है उनका मातृत्व के मन्दिर में—Her first confinement."

"अच्छी बात है। तो वह माता की मर्यादा पा चुकीं न ?"

"हाँ। अभी यहाँ आते वक्त सुना कि बेड़ा पार है—A safe delivery."

"तो लीजिए, कुल उजियार हो गया—आँखों का तारा···बेटा··"

"अब जो भी हो, लौटते वक्त पता लेते जाएँगे।"

"ख़ूब हैं आप! जानते तक नहीं ?···नहीं-नहीं, शरमा रहे हैं आप—आँखों का तारा है, तारा। बस, लीजिए बधाई, शाबाशी भी! और, हाँ अब इससे भी बड़ी दावत—एक जशन······"

साहब के चेहरे पर हँसी-ख़ुशी की एक रेखा तक नहीं। ज़रा रुक कर बोले—"भई, तुम्हारी नाक चाहे जो ऊँची होती हो, हमारे यहाँ बेटे की पैदाइश कोई बड़ी चीज़ नहीं। पति हुए तो, पिता हुए तो, कोई वैसी आसक्ति भी नहीं अपनी।"

अब कोई क्या कहे ? लगे हम उनको प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने। वह बन रहे हैं या हमें बना रहे हैं ? तो क्या ममता के ताने-बाने भी उनके अलग हैं, हमारे अलग ? बाहर का ही रंग नहीं, अंतरंग में भी ऐसा अंतर है ?

तभी रास्टन साहब से पता चला कि उनकी धर्मपत्नी लंडन से वापस आ गईं। थकी-माँदी थीं इसलिये आज इस उत्सव में शामिल न हुईं। हमने कहा—"अच्छी बात है, कल आकर मिलेंगे उनसे।"

"हाँ-हाँ, ज़रूर आना। शाम की चाय भी रही—भूलना नहीं।"

वे और हम

भूलते कैसे? उनके हाथ की चाय की चाह तो आज भी बनी है बराबर—भूलने की चीज़ नहीं।

लीजिए, पहुँच गये बेर डूबते। सामने मखमली लॉन पर चाय की मेज़ सजी है—कुर्सियाँ लगी हैं इर्द-गिर्द। देखा, मिसेज़ रॉस्टन विलायत जाकर और भी निखर आई हैं। रंग और खुल गया है। सीने के तान-तेवर के क्या कहने—जवानी वापस आ गई जैसे!

"महीनों रह गईं आप लंडन। बेचारे रॉस्टन साहब दिन गिना किये···"

"भई, बच्चे को स्कूल में न देना था। बग़ैर उसे अंजाम दिये···"

"अच्छा! अपने उस छोटे बच्चे को··माँ-बाप से अलग—हज़ारों मील दूर! वहाँ अपनी नानी के साथ रह रहा है क्या?"

"नहीं तो, होस्टल में है वह।"

"तो वह छुट्टियों में आ पायेगा यहाँ?"

"ऐसा भी कहीं होता है?"

"तो फिर आप साल में एकाध बार खुद जाकर देख-सुन······"

"अच्छा कह रहे हो! आना-जाना आसान है?—हज़ारों का वारा-न्यारा।"

"फिर यहाँ अकेले तो जी रम चुका आपका। रॉस्टन साहब भी बराबर दौरे ही पर रहते हैं।"

"सो तो है—मगर चारा?"

"देखिए, उसकी मर्जी हुई तो फिर गोद भरते······"

तभी रॉस्टन साहब उबल पड़े—"नहीं-नहीं, एक का ही भार निभ जाय तो हम लाखों पायें। तुम्हें क्या पता है कि हमारी तनख्वाह की क्या रक़म अभी से रिज़र्व कर देनी पड़ी है उसके लिये! अपनी कितनी शौक की

चीजों से हाथ खींच लेना पड़ा। एक कहीं और आया—बेटा या बेटी—तो फिर कमर टूटते देर न होगी।"

"तो आप जा रहे हैं संन्यास लेने क्या? साथ रह कर तो कोई उबार नहीं। आप लौ से खेलते भी जाइये और उँगली पर एक आँच भी न आए–ऐसा?"

"अजी, दुनिया कहाँ से कहाँ आ गई—तुम्हें कुछ वैसा पता नहीं। अब तकदीर की दुहाई जा चुकी, तदबीर की बन आई है आज। जो पत्नी है, वह माता भी हो—यह कोई ज़रूरी नहीं। हैं कुछ ऐसे अचूक नुस्खे—हाँ, थोड़ा सतर्क रहना ज़रूरी है।"

"अच्छी बात है—दोनों हाथ लड्डू! इन्द्रियों की छूट भी रही, परिवार की बेड़ियों से जान भी बची। वही बात—साँप भी मरा, लाठी भी न टूटी। मगर, कहीं हर गोरे परिवार के अन्दर यह नियंत्रण का सिलसिला दुंद बाँध चल पड़ा तो फिर जहाँ आप कितने में थे—वहाँ बस, इतने में······"

"नहीं; ऐसा कोई डर नहीं। आखिर नेचर की माँग को कब तक, कहाँ, तक इन्कार कर सकता है कोई? बस, एक समझौता चाहिये। और, सन्तान के प्रति अपनी ज़िम्मेवारी जानते रहनी है। बस, जिसे हम आदमी की दुनिया में ला रहे हैं उसे आदमी के लिबास में आने में पूरी सुविधा भी दे पायें। यह अंकुश न रहा तो फिर बेकार और लाचार की वह भरमार होगी···"

"यह तो पते की बात है आपकी।"

"हाँ, राष्ट्र की उँगली तादाद की तरक्की पर आ गई—सैनिक संगठन या चाहे जो कारण हो—फिर तो हर आदमी···हर युवती का भी यह फ़र्ज़ है कि इस कमी की पूर्त्ति के लिये अपना सब कुछ न्योछावर कर दे। वह विवाहित न भी हो तो कोई वैसी बात नहीं। उसके बच्चे का भार सरकार के कंधे पर आएगा। हमारा राष्ट्र भरा-सँवरा है तो फिर हमारा गया क्या?"

"मगर अपने टोले-मुहल्ले में उस बेचारी की जो किरकिरी होगी।"

"अजी, किरकिरी कैसी—मुँह की लाली कहो, लाली। वह राष्ट्र के लिए सर पर कफन भी बाँधती है तो उसके सर पर सेहरा ही आता है—सेहरा।"

[२]

विलायत में व्याह के उछाह की रसमस्ती वर-वधू के पल्ले चाहे जो आती हो, हमारे यहाँ तो अधिकतर माँ-बाप के हिस्से ही सौगात है यह—यह निराली आन-बान। आखिर बाप ने बेटे का व्याह ही न देखा तो फिर देखा क्या? यही मौका तो उसकी शान-शौकत का निराला जलवा ठहरा। यही सुदिन तो पैतृक प्रतिष्ठा का मुकुट-मणि है, जब सजे-सजाये हाथी-घोड़े बैंड-बाजे के साथ बाराती फौज की बागडोर हाथ में लिये वह धावा बोलता है जैसे पड़ोसी का किला फतह कर उसकी कन्या को हर लाने—यही शान-दारी, यही सुलतानी तो उसके मुँह की लाली ठहरी।

कहाँ वर का पिता और कहाँ कन्या का पिता! वह तेज का पुंज, यह शील का सिन्धु—एक-एक का जवाब है जैसे।

तो माँ-बाप की जिन्दगी में सबसे बड़ी चाह क्या है, उछाह क्या है—बस, बेटे का व्याह! और, यह रस-रंग की बौछार घर-घर है—क्या राजा क्या रंक, क्या साहूकार क्या मजदूर। वही हौसला है, वही नशा—चुक्कड़ या स्वर्ण-पात्र। वही मलयानिल है—झाड़-झुरमुट हो या मालती-निकुंज।

आज रायसाहब के घर बेटे का व्याह है। उनके घराने से पुराना सरोकार ठहरा—कैसे नहीं जाते? जिले के सारे जाने-माने शामिल हैं। लीजिए, गोरे अफसर भी हैं—प्लैन्टर भी। और खातिरदारी तो ऐसी कि क्या कहे कोई!

क्या नौशह और क्या शाहबाला—दोनों की रौनक आज देखते ही

बनती। दोनों ही ठहरे अपने—बड़े औरछोटे, रायसाहब की आँखों के तारे। ज़री किमख़ाब का जामा-जोड़ा ही नहीं, सर पर सरपेंच भी है—तुर्रा भी। और, रायसाहब की आँखों में ममता की वह मदहोशी कि जब गुलाब जान ने भरी महफ़िल में सेहरा गाया तो बाप की मुट्ठियाँ ऐसी खुल पड़ीं कि चाँदी की बौछार बरस गई इर्द-गिर्द।

हमने झुककर रॉस्टन साहब से कहा—"सच मानिये, आज रायसाहब क्या नज़र आये—दुनिया नज़र आई हमें।"

"यह क्या कह रहे हो तुम?"

"है एक शेर—रायसाहब की वज़ेदारी देख याद आ गया हमको—

'यह प्यार, यह अन्दाज़, यह हुस्न, यह शोख़ी,
दुनिया नज़र आई मुझे जो तू नज़र आया!'

—तो बस, लीजिए, यही दुनिया है—अपनी ममता, अपनी कल्पना की परम्परा—है न?"

"माफ़ करो, यह तुम्हारी दुनिया चाहे जो हो—हमारी नहीं। हमारे यहाँ ममत्व कोई चीज़ नहीं। बस, एक कर्त्तव्य का महत्व है। सच मानो, आज हमारी आँखें भी खुल रही हैं। तुम्हारे यहाँ घर-बार··· संसार से मुँह मोड़ हिमालय की चोटियों पर एकान्त साधना का जो महत्त्व है उसका रहस्य आज खुल गया!"

"यह क्या कह रहे हैं आप?"

"जी! हम जान गये, तुम्हारी सारी धार्मिक किताबों में वैराग्य और संन्यास पर ऐसा ज़ोर क्यों है, यह अनासक्ति-योग का ऐसा उपयोग क्यों है! तुम्हारे पारिवारिक ताने-बाने में आसक्ति की न ऐसी लगी-लिपटी रहती और न तुम्हारे संतों-मनीषियों के दृष्टि-पथ पर निवृत्ति ही तुम्हारी ज़िन्दगी

की सच्ची मंज़िल बन कर आती।"

"भला यह भी कोई बात है?"

"अजी, पते की बात है यह। यही ममत्व का बन्धन ही तुम्हारा भव-बन्धन ठहरा। दुनिया के किसी देश में 'मैं और मेरा' का ऐसा माया-जाल नहीं।"

हम लगे आँखें फाड़ उनकी बात की तह ढूँढने। हमारी चीज़ें जानने-समझने की धुन तो उनकी बराबर रही।

"नहीं समझे? तुम्हारे यहाँ यह अजीब बात है—एक ओर तो यह फ़तवा है कि अपुत्र की कोई गति नहीं। बेटा ही न रहा तो सब कुछ रहते भी कहीं के न रहे तुम—धन-मान की सारी विभूति कौड़ी की तीन—लो, लोक तो गया ही, परलोक भी डावाँ-डोल ही रहा। स्त्री भी तुम्हारी अर्धांगिनी ठहरी, सहधर्मिणी भी—'पूर्वजन्मार्जिता नारी'—चिता पर भी तुम्हारा साथ देगी वह। यही सतीत्व ही नारी-जीवन का सर्वस्व ठहरा—ऐसा अटूट सम्बन्ध। और, दूसरी ओर, इस रीति-नीति के ठीक विपरीत, यह ऐलान है कि 'का तव कान्ता कस्ते पुत्रः?'—कोई भी अपना नहीं। यह संबंध तो नदी-नाव-संयोग है—मुसाफ़िरख़ाने का साथ—यह आया और वह गया। यह 'मैं और मेरा' की कल्पना ही मकड़जाला है—एक फरेब, एक चकमा। यही तुम्हारी मानी हुई अविद्या है—माया। है न? तो लो, तुम्हारे समाज में ममता के न ऐसे अटूट शिकंजे आते और न दुनिया से मुँह मोड़ हिमालय को पलायन......"

"तो क्या आपके यहाँ यह परिवार का बन्धन नहीं?"

"जी नहीं, कहीं अच्छे हैं हम। हमारे यहाँ परिवार कोई जंजाल नहीं—कारागार नहीं कि उस जेल से रिहाई का सवाल ही उठे। बेटा हुआ,

हुआ—न हुआ, न हुआ—कोई बात नहीं। वह हमारी कमाई का साझे-दार भी नहीं। पढ़ा-लिखा दिया, अपना फर्ज अदा कर दिया, बस। अब वह अपने पैरों पर खड़े हो जिधर मुड़े, जिसे ब्याहे—जिस रंग में आए। खुशी उसकी; जिम्मेवारी उसकी। मेरा कुछ आना-जाता नहीं। जो भी अपनी रही, रही—न रही, न रही। बस, जब तक जो रमा, रमा—न रमा तो फिर वह कहाँ, हम कहाँ! बस, अपना सुख-स्वाच्छन्द सब पर वाला है—अपनी खुशी…"

"यह तो एक ऐसा तंग स्वार्थ है कि क्या कहे कोई!"

"कोई कुछ कहे, हमारे यहाँ ममता का अटूट बन्धन जो कुछ है, वह राष्ट्र से है—परिवार से भी वैसा नहीं!"

"ऐसे आप जो कहिये, पर यह ममता की डोर कहीं नहीं—कोई दरी नहीं। हमारी तो बड़ी तमन्ना है कि आपके बेटे के ब्याह में भी आपकी चाह और उछाह की बानगी…"

"ऐलो! जैसे कि वह बाकी ही है!"

"क्या सच? मगर आपने मुझे कोई सूचना नहीं दी?"

"जैसे कि हम उस ब्याह में शामिल ही रहे! विलायत में ही उसे एक लड़की पसन्द, आ गई—शादी कर ली। उसकी माँ भी शामिल न हो सकी। बस, यहाँ से आशीर्वाद के साथ एकाध उपहार की चीज…"

"तो क्या बहू अपनी सास के चरणों में…"

"ऐलो! तुम जिसे देखते हो, अपनी ही नजर से देखते हो और यह नजर ही अक्सर तुम्हारी आँख पर परदा बन जाती है। अजी, यहाँ बहू की सूरत तक नहीं देखी हमने!"

और वह हँसते हुए उठ खड़े हुए। रह गये हम उनका मुँह देखते।

२

अजीब है यह संसार-चक्र और बड़ी चीज है यह परिवार-चक्र—यह 'मैं और मेरा' का शीशमहल ! और, तुर्रा यह कि यहाँ कुछ भी अपना नहीं, अपना रहने का नहीं। यह शरीर--यह 'मैं' भी अपना नहीं। फिर भी, उस ममता मायाविनी की मोहिनी ही कुछ ऐसी है कि आँखें खुल-खुल कर भी खुल नहीं पातीं। हम कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ।

दुनिया के हाथों ठोकरें खाते हैं, खाते जाते हैं। फिर भी, जाने कितने कड़वे घूँटों के बावजूद भी। उसी 'मेरे' के घेरे के अन्दर, उसी भूलभुलैया की मरीचिका में भरमते-भटकते रह जाते हैं निरन्तर। वह जो किसी ने कहा है न कि--'तोड़ती जाती है दुनिया जोड़ता जाता है दिल !' तो लीजिए, हमारे अन्दर ममता की यह प्रवृत्ति ही ऐसी है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति आए, उस लगी-लिपटी से निवृत्ति तो जीते-जी होने से रही।

× × ×

मानी हुई बात है, बाप की कमाई की खुली तिजोरी ही अक्सर उठती जवानी के सर पर शीशे की परी से भी बीस ही आती है, उन्नीस नहीं। और, कहीं, उठती कोंपलों के इर्दगिर्द आठो पहर दुलार की बौछार भी है

तो लीजिए फल-फूल चुकी वह फसल, पल चुके पलकों में एक स्वस्थ-सन्नद्ध भविष्य के सपने।

मोहन लाल की मनमानियों के क्या कहने। भींगती मसों के सर पर सेहरा क्या आया, उस उठान की दिशा ही बदल गई जैसे। नई हसरत आई, नई लज्ज़त। कॉलेज की पढ़ाई रह गई ताक पर। कहाँ बी० ए० की डिग्री आती, कहाँ आई सोने से लदी नई बीबी की डोली।

इधर पैसा आया, दिल उमड़ा, हौसला बढ़ा, शौक चर्राया, ऐश-आराम की बन आई—आसानी की तलाश आई।

लीजिए, वह दिन भी आया कि बाप की मर्जी का कोई मोल ही नहीं—उनकी कमाई की झोली में हाथ दे बैठना बायें हाथ का खेल हो गया जैसे। आखिर जवानी के मद की उफनाती बेचैनी तो किसी भी शील की प्याली से छलक कर बाहर आती है। और, यह सिलसिला जो चला तो ढल गया आँख का पानी। जमते-जमते जम गए पैर रस-विलासिता की पौर पर।

अब रायसाहब की सुनता कौन? न वह रास ढीली रखते न आज लेने के देने पड़ते। जो बीज बोया है आपने उसकी फसल काटनी ही ठहरी।

आखिर जानते-जानते उनका रोआँ-रोआँ जान गया कि अब बेटे की मनमानियों का नाज़ उठाए जाना खतरे से खाली नहीं। रुख़ पलटना है—चारा नहीं। मगर वह कम्बख्त ममता उनके विवेक की सुने तब न! यह दिल है कि मचला जा रहा है आज भी। इसी ससपंज के भँवर में डूबते-इतराते रह गए। अब न हाथ खोलते ही बनता है, न हाथ खींचते।

हाँ, जब वह दिन आया कि अपने पसीने की सिंचाई की सारी फसल कर्ज से लदने पर आई तब रायसाहब का पसीना छूट चला। उड़ गए हाथ के तोते। आँख मूँद ढील देने का अंजाम देख लिया।

हाँ, जो रक़म गई सो गई, उसके लिए अब हाय-हाय कर होता क्या, अपना ही जी खोना ठहरा।

उस दिन घर पर मिले तो देखा, चेहरा गिर गया है। आँखों में उदासी छाई है, पेशानी पर बेचैनी भी। अपने ही बनाये ताने-बाने में उलझे हुए, खोये हुए चुप बैठे हैं। हो-न-हो, उनके संस्कारों को ठेस पहुँची। अच्छा होता यह जलन आँखों से आँसू बनकर निकल पाती। आप होंठ काट भरे गले से बोले—"लो, यह दिन भी देखना पड़ा—बेटे के हाथों अपनी ऐसी दुर्गति। कहीं का नहीं रखा उसने। क्या थे, क्या हो रहे हैं आज! अब आगे क्या देखना है, क्या-क्या..."

"घबराइए नहीं। धन जाता है, लौट आता है। बस, मन अपने हाथ सँजोए रखिए। वह है तो सबकुछ है और वह गया तो सबकुछ लुट गया।"

"यह क्या कह रहे हो तुम?"

"नहीं समझे? कोई ऐसी मुसीबत नहीं जो आपके हँसते चेहरे के सामने घुटने टेक न दे। आपके होंठों पर मुस्कान बनी है तो फिर जिन्दगी में चाहे जो तूफान आए—सर पर आसमान ही क्यों न फट पड़े, एक बाल भी बाँका न होगा। 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'!"

"ऐसा?"

"जी! जी की हार हार है, जी की जीत जीत। जो बिजली गिरने आई है वही फूलझड़ी बिखेर देगी इर्दगिर्द। बस, आप जितने ही में हैं उतने में खुश रहिये। मोहन लाल भी अपनी चादर के अन्दर पैर समेट लेगा।"

लीजिए, विभव गया, अभाव आया; नशा उतरा, होश आया। कहाँ पैसे उड़ाए जाते रहे, कहाँ अब गिन-गिन कर दाँतों से उठाने पड़े।

यारों की चाँदी जाती रही। जी-हुजूरी की मीठी ज़बान और झुकी गरदन का वह कारवाँ चलता बना। पैसे के साथ वह आया था, पैसे के साथ वह गया भी।

क्या दुनिया है यह! हमारे होंठों की हँसी चूमने एक मेला उमड़ा आता है हमारी पौर पर; मगर कहीं इन आँखों के आँसू उठाने पड़े तो बस ढूँढ़ा कीजिए हर जानी-पहचानी की आँख में पानी—क्या कहने कन्नी काटने की कला के! यारों की बदली हुई नज़र ने उनकी आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा दिया कि 'तारीकी में साया भी जुदा होता है इंसाँ से'। जो एक दिन उनके सामने आँख तक न उठा पाते रहे वही लगे अब उन पर उँगली उठाने, अँगूठे भी दिखाने।

'बाग़वाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे,
जिन प' तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे।'

हाँ, छोटे भाई सोहन लाल के लिए यह दिन का फेर अच्छा ही रहा, बुरा नहीं। यह अभिशाप वरदान हो गया जैसे। छँट गए सर से वह छाए हुए बादल। चाँदी की वह सतरंगी मोहिनी क्या गई, अपने पैरों पर खड़े होने की आसानी आई। वह दिल उड़ेल भिड़ गया कॉलेज की डिग्रियाँ लेने।

मोहन लाल के उखड़े हुए पैर भी आने लगे ज़मीन पर। किसी उड़ान की गुंजाइश जाती रही। अब अपना गुज़ारा कैसे क्या हो! वह गुज़री हुई ज़िन्दगी तो छप्पर फाड़ आने से रही। और, जब तिजोरी ही सूनी हो चली तो फिर नस-नस में बसी वासना की बू-बास से आता-जाता ही क्या? वह रही—रही, न रही—न रही। 'विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।'

हाँ, उसके भीतर का ऐयाश तो मरा नहीं। वह रस की तरस उसकी ज़िन्दगी ही विरस करने पर आई।

तभी एक दिन जाने किसने उसके कान भर दिये कि बाप ने मोहरों की निजोरी चुरा कर अलग रख ली है अपने सोने के कमरे में। वह हजारों-हजार की रक़म सोहन लाल के लिए सुरक्षित कर दी गई है। बस, जाग उठा शैतान और सो गया उसके अन्दर का भगवान। मोहनलाल उठा उसी कमरे में सेंध देने आधी रात।

इधर बाप को नींद नसीब कहाँ! नसीब हो कैसे? जब तक जी उठ रहा है, बैठ रहा है—चाहे तड़प चाहे उमंग—पलकों पर नींद तो आने से रही।

बस, एक ज़रा-सी आहट पर आँखें खुल पड़ीं—नज़र आ गई बेटे की कारगुज़ारी। ऊँट की पीठ पर यह आखिरी तिनका—खौल उठा खून, उतर आया आँखों में। दाँत पीस कड़क कर बोले—"यहाँ क्या? ऐसा गिर गया तू? जा, जा, अब बाप की सम्पत्ति की एक कौड़ी भी नहीं मिलने की तुझे।"

आखिर गुस्सा और प्यार तो एक ही जड़ की दो डाल ठहरे—एक ही सिक्के के दो रुख़! क्या तिरसठ क्या छत्तीस!

करीब था कि बाप-बेटे में कुछ कहा-सुनी हो जाय कि मोहनलाल की बहू आकर ससुर के चरनों में सर रख देती है।

रायसाहब बुत! क्या कहें, क्या नहीं! आँखों में अंगारे लिए गुस्से में चूर भरे बैठे रहे। रह गये वह तेवर वैसे के वैसे।

मोहनलाल उलटे पाँव लौट पड़ा। जाने क्या ऐसी प्रतिक्रिया आई कि उसी पल घरबार छोड़ चल दिया—खो गया उस घुप्प अंधियारे में।

हमें याद है वह सवेरा—भोर का झुटपुटा, जो पल में क्या से क्या हो गया! छा गया कुहरा जैसे। दिल बुझा और बुझ गई दुनिया की रोशनी भी। उधर पौ फटी, इधर रायसाहब का कलेजा फटने पर आया।

पिचक कर बैठ गया वह जोश का गुब्बारा, वह सारी बौखलाती हवा पल में फुर्र हो गई।

लीजिए, गुस्सा काफूर—उमड़ आई ममता दु'द बाँध। "हाय बेटा, कहाँ चल दिया तू?"

"कहीं भी गया हो—लौट आयेगा दो दिन में।"

"कहीं न आया···तो···?" रायसाहब पुक्का फाड़ रो पड़े। उठा लिया सर पर आसमान। पर कोई लाख सर फाड़े या गला फाड़े—आसमान का क्या? वह तो जो है सो है—शून्य, बेलौस···

इधर मोहन लाल की नवेली बहू है कि सीना उठ रहा है, गिर रहा है। चीख रही हैं आँखें, काँप रहे हैं होंठ और थर-थर थर्रा रहे हैं पैर—अब गिरी तब गिरी।

तभी घिर आये आसमान पर बादल। वह अंधड़-तूफान कि कब क्या हो। हम सब तो चटपट चल दिये अन्दर। वही अकेली खड़ी की खड़ी रह गई। उसे परवा क्या? अपना आँचल निचोड़ दे तो यह आँधी-पानी भी पानी भरे उसके सामने।

हमें याद है वह दिन, वह क़यामत का दिन आज भी।

रायसाहब के जी में जी नहीं, कल नहीं। बुद्धि भी जवाब दे रही है जैसे। अब कौन कहे उनसे कि छोड़िये भी, बला गई—आपका गया क्या! अपने किये का फल पा रहा है वह।

ओह! कैसी दृढ़ है यह ममता की कड़ी! पल में चेतना की रही-सही लड़ियाँ टूट गईं—बिखर गईं, पर यह है कि बनी की बनी है एकछत्र, अटूट।

× × ×

वे और हम

कोई बीस दिन बाद। पा गये हम मोहन लाल का पता। यह भी पता चला कि उसने अपना पता भी पा लिया है—कितने पानी में है वह। बाप के दुलार की बौछार से उसने कभी कुछ पाया न था, अपना कुछ खोता ही गया बराबर। हाँ, वह आधी रात की फिटकार उसके लिये उबार हो गई जैसे। लग गई बात, रम गई रोम-रोम में। झकझोर कर उठा दिया उसकी सोई हुई संभावनाओं को। ऐश-आराम की जिन्दगी से मुँह मोड़ मुड़ गया वह पसीने की मिहनत-मजूरी की पौर पर।

रास्टन साहब उन दिनों कलकत्ते में थे। हेड आफिस की बागडोर उनके हाथ में थी। मोहन लाल को वह कैसे भूलते? रायसाहब से जैसी गहरी छनती रही एक दिन। यह परिचय फल गया। मोहनलाल को उस फर्म में एक अच्छी-सी जगह मिल गई।

रायसाहब को अब कलकत्ते जाने की पड़ी। वह मुहर्रमी मूड जाता रहा। सुबह का भूला शाम तक लौट आया अपनी पौर पर। उम्मीदों की सूखती टहनियाँ फिर लहलहा उठीं और जगमगा उठे अरमानों की अटारियों पर वे बुझे हुए दीये। बस, अपनी आँखा देख आते, अपने हाथों बेटे की पीठ थपथपा लेते तो उनकी नाव किनारे आती। रास्टन साहब के चरनों में भी तो अपनी श्रद्धांजलि की डाली रखनी ठहरी। उनकी कृपादृष्टि बनी रही तो मोहन लाल के दिन फिरते देर न होगी।

हम भी साथ ही कलकत्ते आए। मोहन लाल से मिले भी। लगा, वह कुछ और ही दिख रहा है आज। चाह रहा है अपने पैरों पर खड़ा रहना। हाथ-पैर तोड़ बैठे रहना गवारा नहीं। आखिर जान गया कि घर का ही आँटा गीला करना पड़ा तो आँटे-दाल का भाव मालूम होते देर न होगी। उसके अन्दर जिम्मेवारी आ चली। आँखें खुल रही हैं, खुलती जायँगी—कोई शक नहीं।

यहाँ आकर सुना कि रास्टन साहब के शाहजादे भी यहीं कलकत्ते के आस-पास बैरेकपुर में एक विलायती फर्म के मैनेजर बन कर आये हैं। बीबी-बच्चे भी साथ हैं। इधर किसी दिन आ पड़े तो माँ-बाप से मिल लेते। उनकी पत्नी तो छठे-छमासे ही आती होंगी यहाँ। हाँ, किसी रात 'सैटरडे क्लब' (Saturday Club) के डिनर डान्स में आँखें चार हो गईं तो ज़ाहिरदारी की भी बन आई। बच्चे तो दार्जिलिंग पहाड़ पर एक अंग्रेजी स्कूल में दाखिल हैं। जाड़े की छुट्टी में यहाँ आये तो आये। पितामह की पौर पर भी किसी दिन हाजिरी बजा गये—पा गये लेमनजूस या लॉलीपॉप के पैकेट।

क्या कहने विलायती तौर-तरीक़े के। यह रास्टन साहब हैं कि बुढ़ापे की देहरी पर आकर भी अपने श्रम के स्तर पर खड़े हैं कमर बाँध। आराम नहीं, राम-नाम नहीं। रात अपनी चाहे जो हो, सारा दिन तो इस सिन में भी पराधीन ही ठहरा। वही मशीन-सा जीवन—जब देखिये, आफिस की फाइलों में तल्लीन।

हमसे रहा न गया। हँस कर छेड़ बैठे—"भला इस सिन में भी लहू-पसीना एक किये जा रहे हैं आप? कोई वैसी कमी रहती तो खैर…"

"तो बुरा क्या, बुढ़ापा भी पसीने में नहा कर ही निखर पाता है निरन्तर। जान रखो, संयम और श्रम—दो हीं अवलम्ब ठहरे। बेकारी तो हर हालत में मौत की मुनादी लिये आती है।"

"कमाल कर दिया आपने। आपके साहबजादे जब ऐसे अच्छे ओहदे पर आ गये—तनखाह भी वैसी…"

"तो हमें क्या?" फड़क उठे उनके होंठ।

"हमें क्या! खूब हैं आप भी! आप ही की तो पाँचों उँगलियाँ घी में आयीं। कहीं अच्छा होता, आप वहीं साथ रहते। हाथ पर हाथ दिये

भगवद्भजन चलता। बहू के हाथों की सेवा-शुश्रूषा पाकर आपकी पत्नी भी…"

"जी, ऐसा होता तो ऐसा होता। मगर, ऐसा होता भी है कहीं हमारे यहाँ? भला बेटे की कमाई पर तकिया किये बैठे रहना—ऐसा? उसकी आँख में जो भी पानी है—वह ढल जाय। हाँ, ऐसी ही कोई मजबूरी आई, यह कड़वे घूँट जी मसोस पीने ही पड़े तो…"

"मगर बहू के हाथों तो सास की जैसी खातिरदारी…"

"यह क्या ले उठे तुम?" वह बीच ही में उबल पड़े, "बहू उठेगी सास के तलवे सहलाने, ऐसा? साथ रहना पड़ा तो दो दिन में ही वह-वह किस्सा खड़ा हो जाएगा कि क्या कहे कोई…हमारी पत्नी से ही कभी पूछ पाते उसकी आपबीती तो…"

"अच्छा तो बहू-बेटे के हाथों वह बैरकपुर के बँगले में…"

"जी, चख चुकी हैं वह मजा—अच्छी तरह चख चुकी हैं। नये-नये आये थे वे यहाँ, मुद्दत पर आँखें चार हुईं—आखिर तो माँ, बेटे की दो मीठी बातों पर ढल पड़ीं। हम भी उन दिनों दौरे पर थे…दूर—बहुत दूर…"

"तो फिर?"

"फिर क्या, लो, बहू का माथा ठनका कि यह बुढ़िया हर तरह का आराम पाकर लगी आये दिन यहीं मड़राने, तो यह बला अपने सर आई। सास का नाज उठाये जाना खेल नहीं। बस हवा पलटी…जाने दो…।"

"माफ़ कीजिये, आपकी दुनिया भी अजीब है। बस, अपनी-अपनी पड़ी है हर की। भला परिवार के अन्दर भी यह दौर—क्या खूब!"

"अजी, यही दुनिया है—ठोस, सच्ची। काश, ज़माने की नब्ज़ पर तुम्हारी उँगली होती। तुम तो सपने पाल रहे हो—सपने। सुना है न—East lives in the past or in the future but never in the present."

३

सर्दियों के दिन हैं। बड़े दिन की छुट्टी भी। इन्हीं दिनों तो कलकत्ते के दिन बहार के दिन हैं, रात सोहाग की रात। बस, दिन हों तो ऐसे हों, रात हो तो ऐसी हो। धूप भी रेशमी, ठंड भी मीठी और दक्खिनी हवा का वह छलकता पैमाना कि फड़क उठता है रोआँ-रोआँ। जभी तो सारी दुनिया उमड़ी आती है उसकी पौर पर ज़िन्दगी का मज़ा लूटने। क्या जाने यह दिन फिर आयें, न आयें!

तो यह दिसम्बर की तातील कलकत्ते के हवा-पानी में क्या रंग लाती हैं, क्या उमंग—वह रेस कोर्स की निराली चहल-पहल से पूछिये, नाइट क्लबों के नैश विलास, डिनर-डान्स से पूछिये और फिर पूछिये अपने उमड़े हुए दिल की मचलों से, अपनी झूमती आँखों की हलचल से। बस, जवानी की अँगड़ाइयाँ तो देखते ही बनती हैं रात-दिन।

अब जहाँ ऐसी निराली नैरंगियाँ हैं, कैसे नहीं आते हम, कहिये। यही रौनक तो इस शहर का सर ऊँचा किये हुए है आज भी।

मगर, यहाँ आकर पाया, इस बार विलायती रस-रंग की महफिल में हमारे रॉस्टन साहब हस्बमामूल शामिल नहीं। उन पर जिन्दगी की इस

लहर का कोई असर नहीं। बुढ़ापे का दौर आया और घर की पौर याद आई। लीजिए, बोरियाबस्तर समेट लौट रहे हैं अपने देश पर।

यही सिलसिला है, कितने आ रहे हैं, जा रहे हैं। यह ताँता तो न टूटा है, न टूटेगा। मगर, इन्हीं आने-जानेवालों में एकाध ऐसे भी हैं जिनके आने से एक नई रोशनी आयी, जाने पर जैसे सन्नाटा छा गया।

रॉस्टन साहब के जाने का सभी को रंज है। हमें तो वैसा साफ अंग्रेज कभी मिला ही नहीं। यह नहीं कि अन्दर कुछ है, जबान पर कुछ। गोरा होकर भी वह दिल का काला नहीं। बस एक रंग—क्या भीतर, क्या बाहर, एक नजर—क्या लंडन, क्या हिन्दुस्तान।

फिर भी अपनी रीति की पाबन्दी तो छुटने से रही। जो अंग्रेज सत्तर पार गया कि समुन्दर पार घर जाने की सुधि आई। वहीं अपने घर की पौर से उस पार परलोक की सफर की सुविधा है उनकी नजर में।

सनीचर का दिन है। सवेरे ही साहब से मिले हम। आज रात 'फर्पो' में डिनर रहे, अपना न्योता भी जता दिये। मिल गई खड़े-खड़े उनकी स्वीकृति भी।

लौटते वक्त देखा उनके सारे सजे-धजे कमरे सूने पड़े हैं। पता चला, वे तमाम चीजें नीलाम के कटघरे पर जा चुकीं। लंडन ढोये लिये जाना तो आसान नहीं। चलो, बेच-बूंच कर नक़द बना लो दो पल में।

क्या तौर-तरीक़ा है यह। अपना बेटा—एक फर्म का बड़ा अफसर—यहाँ बैरेकपुर में मौजूद है। उसे ही दे दिये होते यह सारा सामान। हक़ भी तो है उस ग़रीब का। पैसे की वैसी कमी होती तो खैर···। मगर कहे कौन, हम तो न तीन में न तेरह में। हाँ, मिसेज रॉस्टन पहले ही लंडन न जा चुकी होतीं तो, हो सकता है, उनकी बात का एक वजन होता।

दुपहरी की वेला है—जाड़े की दुपहरी। कैसी मीठी, कैसी प्यारी! हम भी खिंच आये उस नीलाम के कटघरे में। लो चलो, एकाध पसन्द की चीज़ हाथ आ जाय तो बुरा क्या।

देखा, चीजें एक-से-एक हैं—सजी-सजायीं। पर, यह तमाम कुर्सी-मेज़ एक ओर, उनकी शानदार मोटर एक ओर। खरीदारों की अच्छी रेल-पेल भी है। उसी पल उनके साहबजादे भी दिख पड़े उस भीड़ में। आपकी मेम साहबा भी साथ हैं। उनकी आँखों में पहचान देखी, होठों पर मुस्कान भी। जीओ, फूलो-फलो—बेटा हो तो ऐसा हो।···मगर, यहाँ कैसे क्या आये वह।

ऐलो! वह भी मड़रा रहे हैं उसी मोटर के इर्द-गिर्द। क्या खूब! जो है, उसीका आशना है। चीज ही है वह ऐसी। मगर, यहाँ तो जेब से रुपये उछालने होंगे। ऐसे तो हाथ आने से रही वह।

हो सकता है, आप कहें हमने ऐसा क्यों सोचा। तो गुस्ताखी माफ़, आप ख़ुद ही समझें, नीलाम की देखरेख तो उनके हाथ नहीं, और वेग़रज़ एड़ियाँ रगड़ने इस कटघरे में आने से रहा कोई।

आखिर यह क्या रवैया है भला—'साफ छिपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं।' चलो, हटो, चले हैं मोटर खरीदने! मुँह खोल माँग ही लिए होते मोटर—वाप के आगे हाथ फैलाने में शर्म ही क्या? ज़ाहिर है, उनकी आँख में पानी है, इन्कार करते बनता नहीं।

देखा, धनसेठों का एक जत्था खड़ा है उस मोटर पर आँख गड़ाये। लीजिए, डाक शुरू हुई, बढ़ती चली। ताल ठोक भिड़ गये दो गोल पगड़ी-वाले। अब हम जैसों की गुजर कहाँ! लौट चले सिर खुजलाते। तभी देखा, दाल गलती न देखकर लौटे आ रहे हैं हमारे वह साहबज़ादे भी सिर झुकाये।

हमें लगा, वह कुछ उलझे हुए हैं, सोच रहे हैं—अपने ही से लड़ रहे हैं जैसे। क्या बात उनके दिमाग में गूँज रही है—हम क्या कहें, कैसे कहें?

आगे बढ़कर मिले उनसे। आज रात 'फर्पो' में डिनर पर आने के लिये नवेद भी दे बैठे, पर आप हैं कि लाचारी जता कर अपनी धुन में आगे बढ़ गये।

तभी उनके ड्राइवर से पता चला कि उनका बच्चा दार्जिलिंग से लौटते वक्त मोटर-दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गया है। हो सकता है, वही लाचारी है उनकी। हमारा माथा ठनका, कहीं उनके पिता भी 'डिनर' पर न आ पाये...तो ?

× × ×

लीजिए, डिनर पर रॉस्टन साहब ऐन वक्त पर आ गये। अपने डिनर सूट में ही लैस आये। चेहरे पर रंग रौग़न भी।

क्या खूब! बुढ़ापे में भी वही गुलाबी बनी की बनी है। सच है, जवानी की आनबान किसी सिन की देन नहीं, मन की उफान है वह अधिकतर। अभी तो सत्तर की पौर पर आकर भी आप झुकने को तैयार नहीं। अपनी मौज की मस्ती बनी है तो फिर शरीर की पस्ती कोई चीज नहीं। उम्र ढलती है, ढले—अंग की फुर्ती जवाब देती है, दे—कुछ परवा नहीं। मन चंगा तो बारहमासी उमंग की गंगा। सुफेदी की तपन आई तो क्या, न आई तो क्या। वह रस का गोमुख तो अन्दर है—बाहर की झुलसी हुई रेत चाहे जैसी भी रहे।

लीजिए, वही जी की ताज़गी है, वही ह्विस्की की चुस्की भी। बस, अन्तर इसी क़दर है कि वह मीने की परी अब आधी रात तक उनके गले से लिपटी नहीं रहती। बस, होंठ चूम और गला सींच लौट जाती है उलटे

पाँव। वह समाँ तो लुट गया कि रात भीगती जा रही है और उधर भीगता जा रहा है गला भी बार-बार। बस, उड़ रहे हैं काग, ढल रहे हैं पेग, और बनी है यह माँग—

"इस दौर से तो भीग न पाया है गला भी
एक दौर नया और चला मेरे साक़िया!"

डिनर की मेज़ पर आते ही वे टोक बैठे—"ऐलो! कुल दो—तुम और हम? बूढ़े रायसाहब को ही ख़बर कर दिये होते।"

"जी, फोन पर मोहनलाल से बातें हुईं। पता चला, दमे का ज़ोर है। रात में कहीं बाहर जाने से रहे। आपके साहबज़ादे को भी डिनर पर आने को कहा, मगर वे कुछ ऐसे परीशान से नज़र आये..."

"परीशान? परीशान क्यों?"

"आप सुने होंगे...वह मोटर की दुर्घटना। आपके पोते को जैसी संगीन चोट..."

"जैसे कि हम जानते ही नहीं। मगर, वह तो जा रहा है रात की ट्रेन से पहाड़ी जंगलों की तराई में शिकार खेलने—मियाँ-बीबी दोनों। बड़े दिन की छुट्टी है न—दोस्तों की एक पार्टी भी साथ है।"

"अच्छा कह रहे हैं आप! भला यह हो सकता है कि ऐसी हालत में वे कलकत्ते से बाहर जायँ...? सब तो सब, माँ का कलेजा कभी..."

"अजी, बच्चा तो बड़े अस्पताल में दाखिल हो गया। अब माँ-बाप सिर खपा कर पायेंगे क्या? सर्जन होते तो ख़ैर एक बात भी...।"

"तो फिर आपकी देखरेख में छोड़ कर जा रहे हैं क्या?"

"हमारी देखरेख! हम क्या जानें यह कला! हम रहे तो, न रहे तो!"

"मगर ऐसी स्थिति में आपकी लंदन-यात्रा की तिथि तो..."

"जी नहीं, उस पर आँच आने की नहीं। हमें क्या। तुम्हीं हमारी जगह पर होते तो क्या कर पाते आज ?"

"क्या नहीं करते, कहिये। अस्पताल के दर पर माथा टेक खड़े रहते। बच्चे की जान के उबार के लिये अपने मन्दिर की पौर पर भी..."

"हुँह। बड़े समझदार एक तुम ही तो हो। तुम्हारे आँसू की बौछार से वह पत्थर पसीज पाता तो तुम्हारी 'इन्फैन्ट मॉरटैलिटी' (बच्चों की मौत) ऐसी बढ़ी-चढ़ी होती यहाँ ? भई, यह व्रत और मन्नत तो हवाई तीर है, तीर— निशाने से क्या वास्ता ''बस, जो करना था कर दिया गया, जो होना हो, हो। हाँ, उस लौंडे की नस-नस में ज़िन्दगी भरपूर है। वह उठ खड़ा होगा कंधे झाड़—वक्त चाहे जो लगे।"

अब कोई क्या कहे। हमने बात का रुख पलट दिया।

"एक बात बड़ी वैसी-सी लगी आज। आप बुरा न मानें तो··"

"हाँ, कहे जाओ, कोई बात नहीं।"

"हम पूछते हैं, आप अपनी मोटर अपने साहबज़ादे को दे दिये रहते तो आपका जाता ही क्या ? क्या ऐसी कमी थी कि उसे भी नीलाम के तख़्ते पर..."

"तो वह भी नीलाम लेने गया था क्या ?"

"जी, वह भी मौजूद थे, मगर बात बन न पाई।"

रॉस्टन साहब दो पल जाने क्या सोचते रहे। फिर झुक कर बोले—"देखो भई, बरसों से वह अपने पैरों पर खड़ा है···खड़ा रहे—यही उसकी जिम्मेवारी है, उसके मुँह की लाली भी। और, अपनी चादर के अन्दर पैर रखने में कोई शर्म नहीं। हाँ, कभी कोई वैसी बात होती, सर पर आसमान एकाएक फट पड़ता, उसके पैर उखड़ने पर आते तो जो कुछ बन पाता

हम सहारा देने से बाज नहीं आते। ऐसे तो कहाँ वह, कहाँ हम। वह अपना अलग कमाता-खाता है, हम अपना अलग। हम यों ही कंधे दिये चलें तो यह उसके प्रति न्याय नहीं। वह जितना हमसे पायेगा उससे कहीं अधिक वह अपना खो बैठेगा। अपनी सम्भावना—अपनी क्षमता ही बहुत बड़ी चीज़ है, हमारी सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ भी। उसके मन में कहीं ऐसे लड्डू फूटने लगे, तो कहीं का न रहेगा वह, गिरह बाँध रखो।"

"ऐसे आप जो कहिये, मगर एक दिन तो आपकी सारी जमा-पूँजी उसी के पल्ले..."

"दुत्, ऐसा भी कहीं होता है? जैसे हमारी ही कमाई पर उसकी ज़िन्दगी के पाये खड़े हों। हमारी वसीयत देखते तो तुम्हारी आँखें खुल पातीं कि कितना क्या दे रहे हैं हम उसे। अपनी कमाई की एक अच्छी रकम हम पहले राष्ट्र के निर्माण के लिए रखते हैं, चाहिये भी यही। उसके बाद ही किसी आत्मीय या प्रिय का नम्बर है। जानते हो, हमारे यहाँ कॉलिज, अस्पताल—जाने कितनी ऐसी संस्थायें हैं जिनकी बुनियाद, जिनके संचालन का भार हम जैसों के कंधों पर है—सरकारी खजाने से कोई वैसा सरोकार नहीं।"

और हम सोचते रहे, यह ज़बानी भफारेबाज़ी ठहरी, या विलायती नीति-रीति की पाबन्दी भी?

तभी हमारी आँखों में आँख डाल वे उबल पड़े—"तुम्हें विश्वास नहीं होता? भले आदमी! 'Who lives if England dies?'

[४]

भोर का झुटपुटा है। झिर-झिर हवा। हँस रहा है आसमान। इठला रहे हैं, गा रहे हैं पेड़-पौधे।

वे और हम

हसबमालूम हम टहलने जो निकले तो सोचा, चलो, रायसाहब का भी हाल लेते चलें। महीनों से वह यहीं रह रहे हैं बड़े बेटे मोहन लाल के साथ। जाड़े में कलकत्ता शहर, गरमी-बरसात में घर। यही सिलसिला है इधर। हाँ, घर का कारबार सोहन लाल के जिम्मे है। चौथापन है आपका। बेटों के हाथ दाल-रोटी है और अपने हाथ सुमिरनी। नाती-पोतों के हाथ अपनी हँसी-खुशी भी।

लीजिए, सोहनलाल भी बड़े दिन की सैर के लिए आ गया है कलकत्ते की पौर पर।

छोटा-सा एक घर है। तीन या चार कमरे। देखा, रायसाहब बाहर सायबान में ही पड़े हैं औंधे लेटे हुए एक टूटी-सी खाट पर। बुरी तरह हाँफ रहे हैं। लड़खड़ा रहा है गले में बलगम। फटी-फटी-सी आँखें हैं। दमे का जोर है। रह-रह कर एक अजीब आवाज़ से पुकार उठते हैं—मोहन! सोहन!···ओ बहू—सुनो भी···मैंने कहा, सुनती हो···लो जान गई! अरे मुन्ना···कहाँ है मुन्ना?

कोई उनकी सुनता नहीं। चिड़िये का पूत तक नहीं वहाँ। जूते की आवाज़ पर हमारी ओर मुड़कर देखने लगे। देखते रहे—देखते-देखते छलक आए उनकी आँखों में आँसू।

"आ गए तुम? बड़े वक्त पर आए।"

"कैसी तबीयत है आपकी?"

"अपनी आँखों से ही पूछो--क्या कहें हम?"

हमने चाहा कि बात का रुख पलट दें। बोले—"क़सूर माफ़। कैसा सुहावना दिन है आज! बहार का आलम। और आप ऐसे···"

"अजी, बहार आई है, आए—आती रहे। हमें क्या? जो फूल सूख गया, सूख गया।"

"आप ऐसा गला क्यों फाड़ रहे हैं? आवाज़ तो अन्दर जाती नहीं।"

रायसाहब को जैसे 'करेंट' छू गया! तमक उठे—"क्या कहा? अन्दर जाती नहीं? खूब जाती है! मगर उससे आता-जाता ही क्या है—कोई सुने भी!...क्यों सुने? क्या पड़ी है उसे जो सुने?"

"जी नहीं, बहू बेचारी सुन न पाई होगी!"

"अजी, वह सब सुनती है, सब देखती है। फिर भी नहीं सुनती, नहीं देखती। हाँ, नहीं देखती....भूलकर भी नहीं!"

"छोड़िये भी उसको। अपना हाल देखिये। आपकी दवा कहाँ रही? दमे का जैसा जोर है......"

"भई, हम पीले पात, अब झरे तब झरे।...मुन्ना कहाँ है, मुन्ना? जानते हो, मुन्नी को कल से ही बुखार है। दवा देनी ठहरी। किसी को परवा तक नहीं।"

"अच्छा, मोहनलाल जी कहाँ हैं? अभी उठे नहीं क्या?"

"अजी, दोनों भीतर ही सो रहे हैं अपनी बहुओं के साथ। रात बारह बजे सिनेमा से लौटे। अन्दर जो घुसे तो..."

"आपका वह बुधुआ नज़र नहीं आता..."

"जाने कहाँ मर रहा है, पता नहीं।"

तभी देखा, हाथ में चाय की केटली लिये जा रहा है वह अन्दर पिछ-वाड़े से घूमकर।

रायसाहब उसे आवाज़ दे बैठे। उसने मुड़कर एक नज़र देखा भी,

मगर गर्दन ही मुड़कर रह गई, क़दम नहीं। वह तो अपनी लीक पर बने के बने रहे।

"हरामज़ादा! सुनता नहीं!"

"घबराइये नहीं। चाय चाहिये न, चाय! अभी उससे एक कप···"

"छोड़ो भी। बहू-बेटों से बचे तब न?"

"बचेगी नहीं?---खूब बचेगी! देखिये, अभी बहू को जाकर खबर दिये देते हैं—लिये आते हैं उसे भी···"

"हुँह, आ चुकी वह सवेरे-सवेरे।···मौत ही आ जाती तो जान बचती!"

"कैसी बातें कर रहे हैं आप?"

"अजी, पते की बात है! समझे? भगवान् अच्छे आदमी को जल्द उठा लेते हैं—हमें क्यों पूछें?"

हमसे उनकी तकलीफ़ देखी न गई। कहा—"चलिये, पड़ोस में ही हैं हम। वहाँ आप आराम से···"

"मगर मुन्नी जो बीमार है। तलाशती होगी हमको बेचारी। उसे दवा दे पाते··"

दमे का दौर फिर आया। फट पड़ीं आँखें। पास जाकर हमने उनकी पीठ सहला दी। सामने ताक़ पर दवा की एक शीशी रखी थी, उसे उठा लाये। एक खुराक पिला भी दी।

आप थोड़ा शान्त होकर तकिये पर लेट गये। बोले—"अच्छा देखो, भगवान चाहा तो खुद आ जाएँगे तीसरे पहर।"

लौट आये हम। उनका इन्तज़ार रहा—अब आये, अब आये। मगर आये कहाँ? हमने सोचा, हो सकता है, वह उबाल उतर गया। वह वक्त का तक़ाज़ा था, बस।

तीसरे पहर उनका हालचाल लेने उनकी पौर पर पहुँचे तो देखा, पोते-पोती को लिये बड़े इतमीनान से हँस-खेल रहे हैं। मुन्ना सयाना है, मुन्नी चार साल की बच्ची। हम पर नज़र जो पड़ी तो ज़रा शरमा-से गये। बोले—"क्या कहें, यह मुन्ना आ गया, बहल गया जी। यही अब बाबा का सहारा है, साथ दे रहा है। है न मुन्ना ?"

हमने कहा—"खूब! मूर नहीं, सूद!"

"सच मानो, हम तो बहू-बेटों से कभी के खिच चुके होते, मगर यह मुन्ना-मुन्नी..."

रायसाहब चुप हो रहे। एक पल रुक कर बोले—"बस, अब भगवान से एक आखिरी प्रार्थना रह गई है—मरने के पहले मुन्ना का ब्याह देख लेते.."

"हाँ-हाँ, जरूर देखेंगे। जी-भर देखेंगे। और पति ही होते क्या, पिता होते भी देख लेंगे आप! खेला लेंगे परपोता भी।"

"ऐसा ? है ऐसा भाग्य अपना ? दयामय, जैसी तेरी इच्छा! 'एक भरोसो, एक बल'..."

लीजिए, जुड़ आये उनके हाथ, झुक आया सर और ढुलक आये आँखों से दो बूँद आँसू। ओह, कैसी मिन्नत, कैसी ममता उमड़ी पड़ती है इन पलकों के साये में! भावातिरेक में मुन्ना के सर पर हाथ सहलाने लगे। फिर खींच कर छाती से लगा लिया उसको।

एकाएक दमे का दौरा फिर आया। लगे हाँफने। फट पड़ीं आँखें उसी तरह। हम झुके उनकी पीठ सहलाने। उधर मुन्ना और मुन्नी सरक गये बाहर खेल के मैदान में।

दो-चार मिनट बाद उनकी आँखें खुल पड़ीं। खुल पड़ी ज़बान भी।

पुकार उठे—"ओ मुन्ना ! कहाँ रही मुन्नी ? कहाँ ले गया उसे ? लाओ, उसे दवा तो पिला दें।"

× × ×

लौट चले हम। सोचते रहे—यह दम जाय तो जाय पर यह 'हम' नहीं जाता—कभी नहीं जाता। और, उसी पल फड़क उठी स्मृति-पट पर जाने कब की सुनी हुई वह निराली चीज़—

ममता तू न गई मेरे मन ते।
पाके केस जनम के साथी, लाज गई लोकन ते।
तन थाके कर काँपन लागे, ज्योति गई नैनन ते।
पर तू तो हरी भरी है निशिदिन दुगनी लाव लगन ते।

अपनी-अपनी राह

जाहिर है, आदमी जिस हवा-पानी में पनपता है, पलता है, उसका असर अन्दर-ही-अन्दर जाने-अनजाने उसके आचार-विचार का आधार होकर रहता है—और वह विचार भी क्या जो किसी के आचार का आधार न रहा। बदलता हुआ ज़माना चाहे जो घूँट पिलाए, वह संस्कार की छाप तो चेतना के दामन-तले हरी-की-हरी बनी रहती है, मिटते-मिटते भी वैसी मिट नहीं पाती।

जभी तो आज भी उन बीते दिनों की याद हरी है, हमारी निगाह में मसजिद या गिरजा की वही जगह है जो मन्दिर की—बस. एक बँधी-सधी चालू लीक, जो उस मंज़िल का पता दे पाती है। अल्लाह का नाम भी राम-नाम का ही एक जाना-सुना नाम है—वही पुकार, वही सन्धान—और यह निर्देश कुछ अपनी बुद्धि की ही वकालत नहीं, हृदय का भी इंगित है बराबर।

हमें पता है, हमारे कितने साथी-संगी हैं जिनकी ज़बान या कान इस नाम से कैसे हिले-मिले नहीं, इस रंग में कभी आये ही नहीं वह। इस नाम की पुकार पर उनके संस्कार को जैसे ठेस पहुँचती है, वे चट रख देते हैं अपने कान पर हाथ।

यह अपनी मुँहलगी की तरफ़दारी हमारी घुट्टी में पड़ी है जैसे, तिस पर आज की खींचतान की गर्मबाज़ारी में विचार और सद्भाव की वह बढ़ती हुई मन्दी है कि आँखें खुलकर भी खुल नहीं पातीं, नहीं तो राम कहा तो, अल्लाह कहा तो—कोई बात नहीं। ज़बान चाहे जो दो हो, आह्वान तो एक है सरासर।

हमारे परिवार के अन्दर एक बच्ची है, जो अपने पिता को 'डैडी' पुकारती है—माँ को 'मम्मी'। यही उसे प्रिय है, यही उसे मधुर। हाँ, जो लकीर का फ़क़ीर इस पुकार को सुनता है, वह उठता है उसके कान मरोड़ खिल्ली उड़ाने। उड़ाये, उसे परवा नहीं। वह तो इस कान से सुन उस कान से उड़ा देती है हँस कर—टस से मस नहीं होती।

हम पूछते हैं, उसने अपने पिता को बाबूजी न कह कर 'डैडी' ही कहा तो क्या उनकी नज़र से गिर गई वह? काशी को बनारस ही कहा तो क्या काशी की सारी विभूतियाँ लुट गईं? फिर राम या अल्लाह की बोली में क्या रखा है—मुख्य तो है अपने अन्दर की भाव-भक्ति।

एक दिन वह था कि क़ुरान की कितनी आयतें हमें याद थीं। हमारे बुजुर्ग मौलवी साहब सुनाते रहे, दुहराते रहे, समझाते भी रहे अक्सर। इधर भीगती मसों में जिज्ञासा थी, संवेदना भी। और ज्यों-ज्यों हम हज़रत महम्मद की ज़िन्दगी और वाणी से प्रभावित होते गये, उनके क़दमों पर झुकता गया यह सर, यह हृदय भी।

हाँ, जब बरसों बाद पास की मसजिद की सड़क पर बैंड बाजे के साथ गुज़रती हुई एक बारात पर मुल्लाओं का दल अँधाधुँध टूट पड़ा, लगा बेकसूर बारातियों के लहू से होली खेलने, तो हमारी पिलही चमकी—हाय राम! क्या तमाशा है यह! कहाँ इस्लाम की तालीम, क़ुरान पाक का

वसूल और कहाँ यह धर्मान्ध मुल्लाओं का अमल—वह कहाँ, यह कहाँ !

तो लीजिए, हर धर्म की पौर पर यही अंधेर है आज—क्या था वह, कैसा, और क्या हो रहा है अब ! हाँ, जो पेंच ढीला है रहीम के घर—वही राम की पौर भी। कहीं मस्जिद के आगे बाजा है, कहीं गोहत्या का हीला।

जब तक हमारी निगाह में दाढ़ी या चोटी की···ऐसी-वैसी रस्मी पाबन्दी की क़ीमत बनी है तबतक तो हमारी आँखें खुलतीं नहीं और वह सत्य का दर्शन नसीब होने से रहा। जभी तो आज का धर्म और सत्य एक दूसरे से उतना ही दूर है जितना ज़मीन और आसमान।

आज तो जो भी नींद से थोड़ा बेदार होता है उसके सामने धड़ल्ले से यह दिलचीर प्रश्न उठ आता है, वह क्या करे, किधर मुड़े—ईश्वर का होकर रहे, ईश्वर-दूत का होकर रहे या उनके नाम पर प्रचलित मत का ? वह राम का होकर रहता है, रहमान का होकर रहता है, क़ुरान का होकर रहता है तो फिर पीर-पुरोहितों के हाथों सजी-सजाई मजहबी मान्यताओं की टीमटाम को दूर ही से हाथ जोड़ लेना अनिवार्य ठहरा।

देखिए न, उस असीम का सन्देश लेकर एक-से-एक आये—गये। कोई ईश्वर का अवतार होकर आया, कोई ईश्वर का दूत—कोई पूत भी। उनके आने से एक नई रोशनी आई, नई ज़िन्दगी—नई दृष्टि भी और वे हमारी आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा गये कि क्या राह है—क्या मंज़िल। मगर वाह री दुनिया और वाह री तेरी अदाओं की छलना ! तुम से टक्कर लेकर कब किसी की बन आई—कहाँ तक ! लीजिए, उन महापुरुषों का सारा किया-कराया तो शेख़चिल्ली का सपना हो गया—वह अन्तर्प्रेरणा की रोशनी तो तअस्सुब की आँधी में कभी की गुल हो गई। बस, आज रस्म-रिवाज़ की पद्धति ही बड़ी चीज़ है—धर्म की दुहाई भी खूब, पर वह अन्दर की

सफ़ाई-सचाई···वह आत्मभाव की सिंचाई दो बूँद नहीं।

आज तो किसी धर्म की काया में आत्मा नहीं, परमात्मा नहीं। वह तो सम्प्रदाय का कफ़न बाँधे विधि-निषेध का—हाड़-माँस का—एक ऐसा सड़ा-गला ढाँचा है कि क्या कहे कोई!

हाँ, जो अपने अन्दर न मुड़कर बाहर ही रमता रह जाता है—क्या मन्दिर-मठ और क्या मस्जिद-मज़ार—तो फिर उस दर पर वह जो कुछ पते का पा सकता है उससे कहीं अपना खो जाने का डर है अधिकतर।

गुस्ताखी माफ़, हमारे मन्दिर के देवता, हमारी मस्जिद के खुदा पीर-पुरोहितों के हाथों गढ़े हुए खिलौने न होते तो १६४७ साल उनकी अमलदारी के अन्दर शैतान का वह प्रलय-ताण्डव—वह खुल खेलने की छूट ही पाती, उनकी आँखों के सामने ही उनकी सदियों की सजी-सजाई धार्मिक विभूतियों के जनाज़े निकलते और उनकी पौर पर बेचारी मानवता सौ-सौ आँसू बहाती हुई टूट-टूट कर बिखर जाती?

राम कहिये, मजहब तो एक अज़ाब है आज—बैठे-बिठाये आदिम आवेगों की वह आग भड़का देता है कि जो कुछ न हो, कम है। अब यह कोई तथ्य नहीं, कोई चीज़ नहीं। हमारे अन्दर की उस अगाध निधि का पता तो दे चुका वह। खुली आँखों के लिए एक दर्द-सर, बेसिर-पैर की उलझन है बस। क्या ही अच्छा होता—

> "मज़हब कोई लौटा ले और उसकी जगह दे दे
> तहज़ीब सलीक़े की, इंसान क़रीने के!"

तो उन दिनों हमारे राम की पौर पर रहीम की वन्दना भी मिले-जुले एक़ सलीक़े से चला की—चलती रही बरसों—कोई भेद नहीं, कोई खींचतान नहीं।

क्या दिन थे वह—कैसे खूबसूरत। मौलवी साहब की वह मेंहदी लगी दाढ़ी, सर पर वह दुपल्ली टोपी और भींगती पलकें लिये भरे गले से उभरी हुई उनकी ज़बान पर रामायण की चौपाइयों की वह अनूठी रागिनी तो भुलायें भी नहीं भूलती आज। और लीजिए, आप हैं कि आधी रात की तहज्जुद की नमाज भी कभी क़ज़ा न होने पायी।

तो लीजिए, भगवान का नाम या गुणगान चाहे जिस जबान में आये—जिस राग-रंग में—कोई बात नहीं। हमें भगवान का होकर रहना है, किसी ज़बान का होकर नहीं। राम का होकर रहना है, एक नाम का होकर नहीं। और हमें अल्लाह का होकर रहना है, किसी बँधी मजहबी राह का होकर नहीं।

ज़ाहिर है, राह तो जाने कितनी हैं, किताब तो जाने कितनी हैं, ज़बान तो जाने कितनी हैं—पर वह?—वह तो एक है अकेला, एक सहारा, एक आसरा। और लीजिए, वह है कि हमारे श्रद्धाशील दिल की सुनता है, किसी किताब—किसी ज़बान की नहीं।

हाँ, उस राम-रहीम की मिली-जुली दुनिया में ईसा की महाप्राणता का हमें पैसा पता न था। वह अपनी कमी भी पूरी हो गई जब एक क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिल होने के सुदिन आये। माँ मरियम की मूर्त्ति के आगे अपने घुटनों पर सर दिये, गले में 'क्रॉस' लटकाये, पादरी शिक्षकों का वह जत्था तो आज भी सिनेमा की रील की तरह उड़-उड़ कर आता है हमारी पलकों के साये में।

लगा, अपनी ही दुनिया है वह। वही समाँ, वही जलवा—क्या यशोदा के गले में बाँह दिये कन्हैया और क्या मरियम की गोद में ईसा—वही मूर्तियों का जमघट है, वही धूप-दीप, वही जल-छिड़काव, वही घंटे-घड़ियाल। हमारी दिलचस्पी पनपी, जिज्ञासा मुस्कुरा उठी और जानते-

जानते जान गये कि प्रेम और श्रद्धा से भरपूर सगुण भक्ति का ही एक पक्ष है वह ईंजील का राज-पथ। क्राइस्ट की क्षमा और अहिंसा, उनकी निखरी संवेदना और मानवता की तो कहीं तुलना नहीं—बुद्ध ही उस कसौटी पर खरे आयें तो आयें।

फिर क्या? हर एतवार को शाम ईसाई जत्थे के साथ-साथ गिरजे में जाना, वहाँ की पूजा-वन्दना में शामिल अपने घुटनों पर सर रख देना अपना भी एक चालू सिलसिला बँध गया उन दिनों। और हो सकता है, होना चाहिये भी, इस मेल-जोल, इस खुली आँख और खुले दिल के चलते हमने इस जिन्दगी में कुछ पाया ही हो—जी हाँ, पाया ही—कुछ खोया नहीं।

पादरी दुनिया की चहल-पहल देख हमारी आँखें खुल पड़ीं। उनकी सक्रियता; उनकी तत्परता देखते ही बनती है। जनसेवा की प्रेरणा तो कूट-कूट कर भरी है उनके धार्मिक नियम के रोम-रोम में।

क्या लगन है! जो है वह सब के भले के लिए कुछ-न-कुछ किये जा रहा है। स्कूल, कॉलेज, अस्पताल और अनाथालय तो ईसाई धर्म के साँचे में उसी निष्काम कर्म के क्षेत्र ठहरे।

बड़ी बात! किसी काम से इनकार नहीं। बीहड़ जंगलों के कोने-कोने में भील, कोल और किरात की आँखों में उँगलियाँ डाल, पढ़ा-लिखा, बदल रहे हैं उनकी दुनिया! पादरी माँ-बहनें तो हमारे नाबदान के रेंगते कीड़ों को—गले-पचे कोढ़ियों को भी उनकी जहन्नुम की जिन्दगी से उबार के लिये कुछ उठा न रखती हैं अपनी ओर से।

क्या कहने ईसाई इमारत की इस निराली कारीगरी के—ईसाई गुरुजनों की चौड़ी सूझ-बूझ के! मन्दिर और मस्जिद की पौर पर ऐसे कुशल

कारीगर तो चिराग लेकर ढूँढ़ा करे कोई—जी हाँ, ढूँढ़ा कीजिए रात-दिन। कहाँ यह प्रेमप्रवण कर्मनिष्ठ ईसाई प्रीस्ट और कहाँ हमारे धर्मान्ध पीर-पुरोहित और महन्थ।

मगर ठहरिये, इस प्रेम की तह में कहीं काम की बू-बास तो नहीं? इस लोक-सेवा की नीति की निर्मल धार में राजनीति की मैल भी तो मिली-जुली नहीं? विदेशी सरकार तो आखिर ईसाई ही सरकार ठहरी। अपने धर्म के प्रचार में—अपने राज्य के निखार में यह नीति उनके रास्ते से रोड़े चुन पाती हो तो अचरज क्या।

तो वे कहाँ तक अपने ईसा के हैं—कहाँ तक अपनी राजसत्ता के··· हम क्या कहें, कैसे कहें—अपनी आस्तीन उलट कर तो हमारे सामने आने से रहे वह।

चाहे कोई कुछ कहे, चाहे राजनीति ही हावी हो उनकी धार्मिक नीति पर—सौ बात की एक बात तो यह है कि उनके इस सफल प्रचार के जिम्मेवार तो हम हैं—जी, हम ही हैं अधिकतर। अपनी आँख की किरकिरी तो दिखती नहीं, उठे हैं हम पड़ोसी की आँखों की फूली देखने।

तलवार के हाथों इस्लाम के धर्म-प्रचार के मोहरे कहाँ तक लाल हुए—पता नहीं। हम तो पाते हैं कि यह अपने घर की फूट है कि परायी दाल गल पाई यहाँ। ज़ाहिर है, हमारे यहाँ सदियों की सनातनी तंगनज़री के चलते लाखों-लाख आदमी, आदमी की दुनिया से खारिज न होते—छुईमुई की छैनी यों अंधाधुंध न दिल तोड़ती और न घर फोड़ती तो न बैठे-बिठाये भारत के अंग कटते और न नागा पहाड़ियों का जत्था आज अपनी अलग स्वतन्त्रता के नारे उठाता।

लीजिए, यह मियाँ की जूती मियाँ के सर आई। मक्खी निगली थी हमने तो फिर लहू उगलता कौन !

पादरियों के गिरोह में हमें एक-से-एक मिले, ऐसे कर्मठ, ऐसे कुशल कि क्या कहने ! अक्सर हमें लगता, यह ईसाई धर्म तो एक नये मोड़ पर है हमारे यहाँ। मिशनरी दूरदर्शिता ने उसे एक नई राह, नई आवाज़ दी है। उनके प्रचार में एक कला है—जमाने की नब्ज पर उँगली भी। बैठे-बिठाये उड़ती चिड़ियों के पर गिन लें !

सच मानिये, हर धार्मिक उपचार की क़ीमत वे जानते हैं। अपने व्यवसाय के वैसे कुशल व्यापारी न होते तो आज उनकी दूकान पर गाहकों का ऐसा मजमा न जमता।

चाहे कोई कुछ कहे, पीर-पुरोहित और प्रीस्ट का पेशा भी एक पेशा ही है। सब कुछ चलता है—जी हाँ, खूब चलता है, कम या बेश—बस, एक सलीक़ा चाहिये, एक हीला भी। हाँ, इस कला की चोटी की बारीकियाँ क्या चीज हैं—क्या अन्दाज़, वह ईसा की इंसानियत के इश्तहार बाँटनेवालों से पूछिये, मिशनरी लोक-सेवा के निराले तर्ज़-तरीक़ों से पूछिये और फिर पूछिये गये-गुज़रे आदिवासी समाज की बदलती हुई दुनिया से—गिरजे की छत्रछाया तले अछूतों की पलटती हुई काया से।

तो लीजिए, हमारे हिमालय के चरणों को चूमती हुई यह मिशनरी मंदाकिनी उमड़ी आई है—प्रेम की निर्मल धार जैसे। पतित-पावनी गंगा भी जिस ग़रीब को तार न सकी—धो न पाई उसके जन्म-जन्मान्तर के कलुष को, उसे भी कहाँ से कहाँ उठाये देता है यह ईसाई प्रेम का पुण्य-प्रवाह। 'हर की पैरी' पर जो दो बूँद चरणामृत की भीख माँगते जाने कितने काल खड़े के खड़े रह गये—कभी न पूछ हुई न पैठ, लीजिए, उन्हें

ईसा की पौर पर वह अमृत का घड़ा मिल गया कि काया ही पलट गई जैसे। अब मन्दिर के पट खुलें या बन्द रहें—जानें बाबा विश्वनाथ।

मैं पूछता हूँ, कहीं गाँधी न आए रहते···तो? आज पाकिस्तान ही बन कर रह जाता—ईसाईस्तान नहीं? हमारी माता के कितने अंग कट गये होते, कहिये? उठ पाती हमारी ज़बान पर 'वन्दे मातरम्' की वह वन्दना? और कसूर माफ़, अब भी हमारे धर्मान्धों की आँखें नहीं खुलीं···तो?

जानते रहिये, दरारें फट चुकी हैं, फट रही हैं—बढ़ती जा रही हैं। इसका अंजाम? चलिये, अभी क्या हुआ है जो कल हो सकता है।

मगर खैर, छोड़िये भी इस बेतुकी बात को—जो हुआ सो हुआ और एक मानी में अच्छा ही हुआ। घड़ी की सुई तो पीछे लौटने से रही।

आज तो नया दौर है—हमारे राष्ट्र की कैसी उदार, ऊँची नजर। अब तो जिसे जो रास्ता जँचे या रुचे, वही उसका अपना है, अपना सहारा। हाँ, यह नजर भी बनी रहे—कोई पराया नहीं—बड़ा-छोटा नहीं। बस, जो है वह इसी देश का होकर रहे।

आखिर जब सब धर्मों की आत्मा एक है और समदृष्टि ही हमारी संस्कृति की धुरी ठहरी तो यह विविध धाराओं का संगम तो हर भारतीय का तीर्थ है आज।

२

आखिर तबीयत ही तो है। एकाध पादरी सरदार से हिलमिल चली। फादर विलसन की याद तो आज भी हरी की हरी है। क्या विज्ञान क्या दर्शन, दोनों के विविध अंगों की छान-बीन उनकी अपनी धुन रही।

और ताली तो दोनों हाथों बजती है न। उनकी ओर से भी बेतकल्लुफ़ी आई—हमारी चीजें जानने-समझने की दिलचस्पी भी। यों खामखाह तो किसी के पीछे पड़ने से रहे वह।

उस दिन गिरजे से लौटते वक्त जाने क्या ऐसी लहर उमड़ आई उनके अन्दर, वह मुड़ कर छेड़ बैठे एक अजब अंदाज से—

"O! Well you are intensely religious-minded!"

हम ज़रा चौंक पड़े।

"Am I? But thank God, I do not subscribe to any religious creed."

वह लगे आँखें फाड़ हमारी बातों की तह ढूँढ़ने।

"अच्छी बात है। फिर तो तुम्हारी छूट है। है न? क्या राय—यह गाउन, यह क्रॉस तो तुम्हें भी···"

"भला किसी सम्प्रदाय का जामा पहन कर इठलाते फिरें हम—ऐसा ? यह तो जीते-जी..."

"भई, आखिर तो किसी एक का पल्ला..."

"जी, उसी 'एक' का पल्ला थाम रखिए, जी उंडेल लिये रहिए आठों पहर। हाँ, उसे पाना है अपने अन्दर और हम ढूँढते हैं उसे बाहर—वह मिले कैसे ?"

वह दो पल हमारी ओर देखते रहे। फिर आगे बढ़ सामने पार्क की एक बेंच पर जा बैठे। बैठ रहे हम भी आस-पास।

"अच्छा भई, माफ करना, हिन्दू-धर्म से अब तुम्हारा कैसा...क्या सरोकार..."

"हिन्दू-धर्म ? क्या है हिन्दू-धर्म ?—सुनें भी !"

"यह तो तुम जानो। हमने तो जो कुछ देखा है, देख रहे हैं आज भी—वह क्या किसी से पर्दा है ? वही देव-देवियों...मूर्त्तियों की भरमार—क्या पत्थर, क्या पेड़...क्या नदी-नाले। बस जहाँ देखो..."

"फिर तो आपकी नजर सतह पर ही रह गई—तह तक उतर न पाई। यह तो उस धर्म का मर्म नहीं—चर्म चाहे जो हो। और, पहली बात तो यह है कि हिन्दू नाम का कोई धर्म नहीं, कोई बँधी लीक नहीं, कोई ईश्वर-दूत नहीं, कोई खास पुस्तक नहीं। बस, एक 'वह' है निराकार...साकार तो आम जनता के लिए एक ठोस आधार है—स्कूल बोर्ड पर बच्चों की आसानी के लिए खड़िया से लिखे अक्षर-जैसे। मूर्त्ति का माध्यम ऐसे-वैसों के लिए जरा सुगम ठहरा। मगर यह रूप की टेक लेकर उस अपरूप का...स्वरूप का पता पाना अनिवार्य है।"

वह दो-चार मिनट जाने क्या सोचते हुए चुप बैठे रहे। फिर बड़ी नरमी से गुनगुनाते हुए बोले—

"अच्छा होता तुम हमारी ही पौर पर आ पाते। यह द्वार तो बराबर खुला है तुम्हारे जैसे..."

"आ पाते ? जैसे कि हम क्या कभी आए हैं ? क्यों हर एतवार की शाम..."

भई, ऐसे नहीं—एक ढंग से ! समझे ? ईसा की शरण तो तुम्हारी भी..."

"यह क्या कह रहे हैं आप ? यह आप पर नहीं सजता ! ईश्वर ही की शरण न ईसा की शरण ठहरो। वही तो अपना भी अवलम्ब है। और जान रखिए, क्या ईसाई धर्म, क्या इस्लाम—दोनों तो सगुण द्वैत के ही प्रतीक ठहरे—भक्ति-पक्ष। श्रद्धा ही उसकी आधारशिला ठहरी। और लीजिए, अपने यहाँ द्वैत और अद्वैत दोनों ही ऐसे भरे-सँवरे हैं—क्या कहे कोई ? द्वैत का तो वह विस्तृत क्षेत्र है—कितनी शाखें—साकार, निराकार, क्या-क्या नहीं। आप जानते होते तो फिर धर्म लेकर हम ऐसे और तुम वैसे, जी हाँ—यह अपना और पराया का भेद मिट जाता। आखिर सभी धर्मों का स्वरूप एक है—अन्तरंग एक है। बस. अलग-अलग हैं उनके बाहरी रूप-रंग। एक ही रस के विविध छन्द कहिये, एक ही गीत के विविध लय। 'There is only one religion in the world although there are hundred versions of it.' यह रस्म-रिवाज तो देश-काल की देन ठहरे अधिकतर।"

"और वह तुम्हारा अद्वैत ?"

"यही तो भारतीय साधना की बड़ी चीज़ है जिसे आज दुनिया भी

जान गई—मान गई—सत्य की नींव। वैसे रास्ते तो जाने कितने हैं—भक्ति है, भक्ति के क्या-क्या पहलू हैं, कर्मयोग है, ज्ञान है। पर सब की मंज़िल एक है—एक समन्वय—सत्, चित्, आनन्द। और यही अध्यात्म तो आज हर धर्म का मर्म ठहरा—नाम-रूप चाहे जितने हों।"

वह थोड़ी देर सर झुकाए खोए-से बैठे रहे। फिर उठते हुए बोले—"भई, हम चाह रहे हैं तुम्हारी चीज़ें भी जान लेना—तुम्हारे तीर्थों का, साधु-सन्तों का पता पाना। वैसे सुनते तो बहुत कुछ हैं—क्या-क्या नहीं…"

"अच्छी बात है। हिन्दी भी जान ही रहे हैं आप। आइए, चलिए हमारे साथ, एक नये योगी के ज़रा रंग देखिए। जी भी ऐसा बहले कि बस, आप भी क्या याद करें! ले-देकर चालीस का सिन है पर देखिए, क्या तिलस्म है उनकी उँगलियों की पोर पर! ऐसी चीज़ तो विलायती हवा-पानी में कहीं मिलने की नहीं। और तुर्रा यह कि कोई वैसे पहुँचे हुए महात्मा भी नहीं वह।"

वह खुश हो रहे—"बस, चले चलो, देर क्या?"

*　　*　　*

मठ की पौर पर आ गए हम। देखते क्या हैं, बड़ी भीड़ है—चहल-पहल। वह नये योगी तो सामने ही नज़र आए। क्या अच्छे मालूम होते हैं—हँसते हुए। बदन चरपर, चेहरा गुलफुल।

वहाँ नीम के तले एक गड्ढा खुद कर तैयार है—काफ़ी गहरा भी। लीजिए, उसी के अन्दर जा रहे हैं आप।

राम कहिये, इस गड्ढे के अन्दर! कहीं दम घुट गया…तो?

कोई दस मिनट बाद। एक पतली-सी सीढ़ी से उतर गए वह उसी गड्ढे

के गर्भ में। उनके सर से दो हाथ ऊपर लोहे की एक चादर रखकर मिट्टी उड़ेल दी गई—ज़मीन बराबर कर दी गई।

हमें तो लगा, हवा बन्द, रोशनी बन्द—हद की भी हद है यह।

कल ठीक इसी पल उस पाताल के कारागार से बाहर आने का प्रोग्राम है। तभी दुनिया जान लेगी, वह हावी हुए मौत पर या मौत हावी हुई उन पर। आध घंटे पहले मजदूरों का जत्था मिट्टी फेंक रास्ता साफ़ कर देगा।

और, लीजिए, दूसरे दिन ठीक इसी वक्त उस क़ब्र की तनहाई से सही-सलामत निकल आए वह। कोई आँच न आई, चेहरे पर एक शिकन तक नहीं।

अब पादरी साहब की सारी समझदारी जवाब दे बैठी। यह क्या mystic power (गुप्त अलौकिक शक्ति)—क्या कला है जो साँस को भी अपनी मुठ्ठी में थाम रखे। मौत का क्या हौसला जो पास फटक जाय।

उनके लिए यह नई चीज़ थी—नई दिशा। कभी न देखी न सुनी। और अब उसे जानने की पड़ी उन्हें—जैसे भी हो। यही जिज्ञासा, यही छान-बीन की प्रेरणा तो विलायती कल्चर की घुट्टी में पड़ी है जैसे।

उस युवक योगी से वह मिले। अपनी माँग जताई। जितने घंटे कहें उतने प्रति दिन देने को तैयार भी हुए वह। मिशन कॉलेज के कामकाज से कुछ दिन के लिए छुट्टी ले रखने में भी कोई हिचक नहीं। दूध और फल ही खाकर रहेंगे—कोई बात नहीं।

योगिराज उन्हें देखते रहे, सुनते रहे। वह अपनी अरज़ी सुनाते गए निरन्तर।

"मगर साहब, शहरी हवा-पानी में तो इस साधना की सुविधा होने से रही।"—योगिराज की ज़बान खुल पड़ी।

"यह क्या कहते हैं आप ! आपकी नज़र रहे तो फिर इस ठूँठ में भी कोंपलें फूट पड़ें !"

"मगर हम यहाँ कब तक टिके रहेंगे ?"

"तो आप ठहर नहीं रहे हैं क्या ?"

"भई, यह एकाध महीने का कोई प्रश्न नहीं । हमने दस साल तक कोई पापड़ नहीं बेले हैं । हो सकता है, आपके साथ दो-चार बरस…"

"पादरी साहब चौंक पड़े—"एँ ! नहीं…अब ऐसा भी क्या !"

"लो, सुनो ! जैसे कि हम कोई ऐसी-वैसी बात…"

"चलिए, बस कीजिए, आप बहला रहे हैं हमको ।" फड़क उठे उनके होंठ, खिंच आए पेशानी पर बल । "आप नहीं चाहते कि कोई और—कोई और—जाने । यही तंगनज़री तो इस देश की नस-नस में……"

"भला ऐसा भी कहीं होता है ?"

"जी ! खूब होता है—अंधाधुंध । हमारे कॉलिज के पड़ोस में ही एक साधु बाबा हैं जो दमे के मर्ज़ की जाने क्या एक दवा—कोई जड़ी-बूटी—जान रहे हैं कुछ साल से । लीजिए, एक मेला उमड़ा आता है उनकी पौर पर हर इतवार की शाम । बरस रही हैं मन्दिर के द्वार पर रेजगारियाँ—चल रही हैं मली-मलाई डालियाँ भी । पर आप हैं कि आँख मूँद चुप बैठे हैं । वैसे पैसे छूते तक नहीं । कोई लाख सर मारे, उसे अपनी वह चीज़ जनाने से रहे । कैसे जनाएँ, कहिए ! जान लेगा तो फिर उनकी कीमत क्या रह पाएगी वहाँ ? हाँ, जब मौत आएगी सर पर मँडराने तो, हो सकता है, किसी जाने-माने चेले को…"

"तो आप हमारी इस साधना का गुर जान लेंगे तो उठेंगे दुनिया के सामने ढिंढोरा पीटने ?"

"तो बुरा क्या ? अपने ही में समेट कर थोड़े ही उसे लिए रहेंगे !"

योगिराज दो पल अपने ही में खोए चुप बैठे रहे। फिर मुड़कर बोले—

"अच्छा होता, आप हमारे गुरुवर से मिलते। उन्हें ही इस कला में कमाल है।"

"तो आप भी किसी के छात्र ही ठहरे ? कहाँ सीखे आप--कैसे ? लहू-पसीना एक किए होंगे..."

योगिराज मुस्कुरा उठे। बोले—"जी नहीं—

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं, किसी के होके सीखे हैं।"

"किस के होकर ? सुनूँ भी ! और क्या-क्या सीख सकता है कोई ?"

"क्या-क्या नहीं, कहिये ! आँखें चार हुईं नहीं कि आपके दिल की हलचल टटोल सब कुछ जान लिए पल में। हम-आप तो सिर्फ़ ज़ुबान की ही सुनते हैं—है न ? गुरुवर तो आपकी आँख की भी—वह आँख, जिससे दिल का राज़ परदा नहीं !"

"सच ? ऐसा ?"

"जी ! हमारे गुरुवर कोई ऐसे-वैसे थोड़े ही हैं। एक पहुँचे हुए योगी हैं—जी हाँ, योगीश्वर ! वह तो बैठे-बिठाए कहाँ से कहाँ न उड़ जायँ !"

"क्या कहा ? उड़ जायँ... सो क्या ?" चौंक पड़े पादरी साहब।

"जी ! यह शरीर तो जड़ है--साथ दे न पाता है। न दे, कोई बात नहीं। कहाँ देही, कहाँ देह !"

"उनकी पहचान ?"

"हम कैसे क्या कहें ? आपको सच्ची तलाश होगी तो पता पाना मुश्किल नहीं !"।

"फिर भी··· उनका पूरा पता ? कहाँ पर, कैसे मिलेंगे ?"

"आप में लगन है—सच्ची लगन, तो आज से ही उन्हें पुकारिये, सोते-जागते पुकारते रहिए। वह उसे सुन लेंगे—जी हाँ, सुन कर रहेंगे। मिलेंगे भी—जरूर मिलेंगे।···मुनि की रेती···स्वर्गाश्रम के आस-पास। हाँ, वह आपको तोल लेंगे, टटोल लेंगे, समझ लेंगे। हर वैसे अधिकारी के लिए उनका दरवाज़ा बराबर खुला है।"

तो लीजिए, यह तो साफ़ खुल गया कि यह युवक योगिराज कितने पानी में हैं। उनकी पौर पर सर फोड़ कोई पाएगा क्या ? उनके वश की यह चीज़ नहीं। वह जानते जो हों—जितना, किसी और को जना पाना आसान नहीं। तिस पर एक विलायती मिशनरी की नाड़ी पर उँगली रख उसके अन्दर की संभावनाओं को जगा देना उनकी पहुँच के परे हो तो अचरज क्या ? आखिर जानना और है—हर ऐसे-वैसे को जना पाना और।

३

पादरी भाई के दिल की मचलें बनी रहीं। दिन गिना किये। बस, यही ठहरी कि इस साल गर्मियों की छुट्टी हिमालय की तराई में ही गुज़रे। वहीं गुरुवर योगिराज के चरणों के तले बैठ वह इस साधन की दीक्षा लेंगे। ज़रूरत रही तो आते-जाते रहेंगे। क्या-क्या दिशा, क्या-क्या संभावना है इस मृत्युंजय योग के अन्दर—वह सारी विभूतियाँ जान लेनी रहीं और फिर लौट आकर इस प्रयोग के क्या-क्या सदुपयोग हो सकते हैं जन-जीवन के कल्याण के लिए—यह प्रश्न भी हल होगा।

आपने मिशनरी समाज के अन्दर किसे क्या समझाया—हमें पता नहीं। जैसे भी हो, उन्हें दो-ढाई महीने की छुट्टी मिल गई।

गर्मियों में पहाड़ी हवा-पानी की सैर तो अपनी बँधी लीक ही ठहरी। हमने भी कहा, चले चलो, यह अच्छा ही रहा। यह चैन तो हर मानी में चैन होगी—बाहर भी, भीतर भी—दोनों हाथ लड्डू।

लीजिए, चल दिये हम मेल ट्रेन से। रास्ते भर वही चर्चा रही, वही जिज्ञासा।

"भई, माफ़ करना। एक बात तो हमारे दिल में उतर नहीं पाती है।

आखिर इस दुनिया ने क्या बिगाड़ा है तुम्हारे महात्माओं का कि उसके प्रति ऐसी बेरुखी है उनकी ?"

"सो क्या ?"

"यही कि जिन्दगी की सारी जिम्मेवारी से अपना दामन चुराये निकल भागे एकबारगी विजन जंगलों···पहाड़ों की गुफाओं में। उनके अन्दर का मनुष्य भी सजग होता तो यों हमारे सुख-दुख से दूर···"

"तो आप क्या चाह रहे हैं कि यह दुनिया भी रहे और अपनी आध्यात्मिक साधना भी ?"

"और क्या ? पुरुषार्थ और परमार्थ तो एक दूसरे के पूरक ठहरे। सक्रियता ही बड़ी चीज़ है अपनी। बस, कर्त्तव्य और ध्येय दोनों का समन्वय —है न ? आखिर जिस डाल पर फूल हैं उस पर ख़ार भी हैं और उनका भी एक हक़ है हम पर।"

"जी—

"काँटों का भी कुछ हक़ है आख़िर
कौन छुड़ाये अपना दामन ?"

"तो फिर पलायन की इस नादानी का क्या मानी ?···माना कि यह यौगिक सिद्धि बड़ी चीज़ है, मगर लीजिए, अपने कर्ममय जीवन की आहुति जो देनी पड़ रही है। तुम्हीं कहो—क्या खोया, क्या पाया···भई, अजीब अंदाज़ है यह !"

"भला हम इस अन्दाज़ का राज़ क्या जानें। चल ही रहे हैं आप उस विजन वन में एक तत्त्वदर्शी ज्ञानी से मिलने—उनसे ही पूछ कर जी भर लेंगे।"

हरिद्वार आते-आते अपना पादरी-परिधान उतार हिन्दुस्तानी लिबास

अपना लिये वह। हँस कर बोले—"वैसे तो दूरियाँ मिटने से रहीं—बस, In Rome be a Roman."

लीजिए, पैर में चप्पल आई, हाथ की झोली में तरह-तरह के फल।

मगर उनके जिस्म की लालिमा, उनकी आँख की नीलिमा और उनकी ज़बान की भंगिमा तो पल में उस परिधान की प्रतारणा की पोल खोल कर धर देती।

कितने हैं जो अन्दर-ही-अन्दर खौल रहे हैं। एकाध तो हथेलियाँ चटका, आँखें मटका उबल भी पड़े--अबे जा-जा, गोरा है, गोरा। आया है हमारी जमा पूँजी का पता लेने—हो सकता है, सेंध देने।

बस, हरिद्वार के पंडे-पुजारियों की टोल में जिसने उन्हें देखा अधिकतर इसी नज़र से देखा। एकाध तो ऐसे भी रहे धर्मांध महंत जिनकी नाक-भौं की कमानी खिंच उठी। बढ़ल्ले-से टोक बैठे—ख़बरदार! दूर ही रहना, कुछ छू न देना!

पादरी साहब चौंक उठे। यह क्या अंदाज़ है भला! कान पकड़े जो फिर इन तीर्थों के चक्कर में आये!

तभी एक साधु महाराज बेतरह तैश में आ गए। पुकार उठे—मैंने कहा, सुनते हो? कहाँ रास्ता भूल आये? लो, अब लौटते हो कि जूतियाँ खाकर ही•••"

ऐं हैं? जूतियों के बच्चे! यह क्या बके जा रहा है अंधाधुंध? यह 'दूर-छिः' की भी एक ही रही। चलो, हटो•••चले हैं छींटे उछालने।

हम नाहक उन्हें लाने गए इस ओर। गले में हार न देकर उठे हैं गले में हाथ देने। बड़े आए हैं ये साधु-संत—जी, अपने धर्म-मन्दिर के द्वार-पाल जो ठहरे!—

'काबा पहुँचा तो क्या हुआ ऐ शेख़,
कम्बख़्त ! टुक पहुँच किसी दिल तक ।'

साधु-महंतों का यह रवैया देख खिंच गए वह, मुड़ पड़े दूसरी ओर। उनका हर अंदाज़ आपकी नज़र में नाचीज़ था। आख़िर खुल ही पड़ी ज़बान उनकी—

"भई, ख़ूब ! क्या-क्या नखरे होते हैं इनके भी ! अब देखिए, जिन्दगी हो तो ऐसी हो ! कोई जिम्मेवारी नहीं, पसीने की दाल-रोटी नहीं। बस, सुबह-शाम गंगा में डुबकी है, हाथ में सुमिरनी और दो पल राम-नाम ले लिया—चलो, छुट्टी ! जन-सेवा तो दूर—मीलों दूर। शरीर ही श्रमी नहीं तो मन संयमी हो चुका। और लो, बनते हैं भगवान के बड़े भक्त।"

हमने कहा—"जी—

ख़ुदा ऐसे बन्दे से क्यों फिर न जाये
जो बैठा हुआ माँगना चाहता है !"

"भई, तुम्हारी निराली दुनिया है यह !···यही बेसिर-पैर की धार्मिकता की बाढ़ तो इस देश को ले डूबी। अलग-अलग पंथ, अलग-अलग नाम-रूप। कोई कुछ है, कोई कुछ। और, लीजिए, सब कुछ चलता है यहाँ—टोना-टोटका तक। यह चेहरे पर—सारे शरीर पर--रंग-बिरंगी छाप की भी एक ही रही। अजीब हैं यह मान्यताएँ ! काश थोड़ी-सी अक़्ल भी आस-पास होती···!"

हमने कहा—"छोड़िए भी इनको ! इस जन्म में जितना बना वही बहुत है। गनीमत है, परिवार-संसार से तो विरक्त ठहरे !"

"यह कैसी विरक्ति है ?--सुनूँ भी। अपने परिवार से पिण्ड छुड़ा पाए तो क्या, अपनी रूढ़ियों के शिकार तो साफ़ हैं। हाथ पर हाथ दिए

तर माल खा रहे हैं। गाँजे की चिलम भी है कितनों की झोली में। भला त्याग और तपस्या की ऐसी परिणति? क्या ख़ूब!"

"मगर यह तो वह पहुँचे हुए महात्मा नहीं, जिनकी तलाश में आप यहाँ आए। यह पंडे-पुजारी-महंतों की दुनिया है अधिकतर—धर्म की आड़ में एक पेशा ही कहिए—विधिनिषेधों की परम्परा भी ख़ूब है।"

आख़िर हरिद्वार छोड़ आगे बढ़ गए हम—मुनि की रेती होते हुए स्वर्गाश्रम।

और जिसका पता पाने हम खिंच कर यहाँ आए थे उसकी तलाश बनी रही। पहाड़ों की तराई में बढ़ते चले। गंगा के पुण्य-प्रवाह की वह अलौकिक छटा तो पादरी साहब की अनुभूति पर भी बोल उठी हो तो अचरज क्या! घाटी की हरियाली तो देखते ही बनती। पहाड़ी ढलानों पर चट्टान की दरारों से फूटती हुई नर्म-नर्म दूब तो हरे रंग के दाने-सी टँकी हैं जैसे।

मगर यह सारी विभूतियाँ कहीं की न रहीं जब दो दिन की दौड़-धूप भी हमारी मंज़िल का पता दे न पाई। पादरी साहब तो बड़े वैसे-से हो गए। उनके उठते हुए अरमान दिल के दिल ही में रह गए। आख़िर पहाड़ों की बीहड़ तराई में योगीश्वर का पता पाना बायें हाथ का खेल नहीं। क्या ठिकाना—मिलें, मिलें, न मिलें, न मिलें। और, मिलें भी···तो? फिर कोई पख निकल आई···तो?

"क्यों भई, मिलेंगे वह? है यह उम्मीद"—भरे गले से पूछ बैठे वह।

"क्यों नहीं, उम्मीद ही तो जिन्दगी ठहरी—है न?"

"मगर जानते हो, समझदारी का तकाज़ा क्या है?"

"कहे जाइए!"

"यही कि उसे एक सब्ज बाग ही मान यहीं से हाथ जोड़ लेने में जिन्दगी की खैर है।"

"जी नहीं, यह सब-कुछ अपनी चाह और उछाह पर निर्भर है। वैसी तलाश हो तो ईश्वर का भी पता पा लें आप—यह योगीश्वर क्या?"

"हाँ भई, पते की बात है तुम्हारी। मगर वह तलाश जो बड़ी चीज़ है। हम जैसों की वह पहुँच कहाँ!"

और उतर गया उनका चेहरा। भर आया गला भी।

तभी एक गूँजती हुई आवाज सुनकर चौंक उठे हम। देखते क्या हैं कि वही परिचित युवक योगी सामने के टीले पर खड़ा पुकार रहा है-बस, आइए, बढ़े चलिये इसी पगडंडी से। हमारे गुरुवर आज भोर से ही तलाश रहे हैं···।

"लीजिए, सुनिए, सुन रहे हैं आप?"—हमने पादरी भाई के कंधे झकझोर दिए।

"क्या सच? बुला रहे हैं हमको? उन्हें पता?···किसने कब खबर कर दी?"

"भई, यही बेतार का तार है—समझे?···नहीं समझे? काश आपको अपने अन्दर की उस आध्यात्मिक शक्ति की जानकारी हो पाती!"

लीजिए, आ गए हम गुरुवर योगिराज की पौर पर। देखा, छोटा-सा एक आश्रम है। लिपा-पुता, साफ-सुथरा ऐसा कि क्या कहे कोई? सर पर पहाड़ी तनाव का साया—प्रकृति के हाथों सजा-सजाया जैसे। सामने ही थोड़ी दूर पर गंगा की छलाँग की निराली अँगड़ाइयाँ भी नज़र आईं।

वहीं आसपास पेड़ों के तले दो-चार संगी-साथी भी नज़र आए। वह

क्या हैं, कैसे और कब से— हम क्या कहें ? हो सकता है, आए हों उनसे दीक्षा लेने, उनकी सेवा करने भी।

हम दोनों तो आश्रम के अन्दर जाकर योगिराज के सामने हाथ जोड़ पत्थर के एक तख्त पर ही बैठ गए। पादरी साहब सामने रहे, हम ज़रा अलग उनकी बगल में।

आप पद्मासन पर शान्त, स्थिर बैठे हैं। अंगों में कोई गति नहीं। एक अजीब निश्चलता है जैसे। सर के बाल सुफ़ेद हैं ज़रूर, पर क्या मुखमण्डल, क्या शरीर—कहीं पर एक सिकुड़न नहीं, बुढ़ापे की शिकन तक नहीं। क्या कहना है! कोई देखे तो देखते ही रह जाय! वह तन्मयता तो देखते ही बनती है जैसे!

और चेहरे पर कैसी शान्ति है, कैसी रोशनी! हमें लगा, एक रहस्यपूर्ण वातावरण है यह। हरिद्वार के उन धर्मध्वजी साधु-संतों, पंडे-पुजारियों की दुनिया से कहीं दूर, कहीं स्वतन्त्र!

क्या शान्ति है! लीजिए, वह शान्ति तो धीरे-धीरे हमारे अन्दर भी उतरी आ रही है—छाए जा रही है इस चंचल चित्त की वृत्तियों पर भी। हो-न-हो, इस विश्व-जीवन के मूल रहस्यों पर ही उँगली है उनकी।

महात्माजी कुछ बोलते नहीं। वह देख रहे हैं, देख रहे हैं निरन्तर। कैसी ज्योतिर्मयी है वह रहस्यमयी चितवन! निष्कम्प दीप की भी वैसी लौ क्या होगी! हमें लगा, उनकी दृष्टि तो जाने क्या एक बिजली है जो हमारी आँखें चीरती हुई उतर रही है दिल की गहराई तक।

इधर पादरी साहब भी आँखें फाड़ देख रहे हैं उनको। एक सकते का आलम है जैसे।

तभी एक 'धीमी-सी' आवाज आई--"तुम क्या चाह रहे हो—सिद्धियाँ जानना ?"

पादरी साहब चौंक उठे--वाह ! ऐसी दिव्य दृष्टि ! दौड़ गई उनके सारे शरीर में झुरझुरी। रुकते हुए बोले--"जी, यही तो अपनी माँग है। और आपकी कृपा तो कृपण होने से रही ! आपके चेले की एकाध सिद्धि का चमत्कार देख हमारी आँखें खुल पड़ीं..."

"मगर यह जाना तो, न जाना तो—कोई बात नहीं, कोई मंजिल नहीं। उसने अपनी संभावनाओं को नहीं देखा। जरा-सी शुहरत हुई और उसी में खो गया जैसे।"

"तो फिर क्या जानना है--सुनूँ भी ?"

"अपने आपको जानना...वही, जिसे जान लेने के बाद इस जीवन में फिर कुछ जानने को बाक़ी नहीं रह पाता। यही असीम की निविड़ अनुभूति तो इस जिन्दगी की बुलन्दी ठहरी--मनुष्य-योनिकी निराली निधि भी। देखो न, क्या मोह है अपना ! जो नित्य नहीं--कोई वैसा तथ्य नहीं, उसी की छानबीन लिये तुम्हारी विलायती संस्कृति की सारी दिमागी कुलाँच है...एक-से-एक उन्नत-मस्तिष्क, एक-से-एक दिग्गज वैज्ञानिक की अथक स्फूर्त्ति भी। और लो, जो सब-कुछ है—चरम-ज्ञान, उसे जानने को, पहचानने को कोई वैसी धुन नहीं। आखिर इस भौतिक जगत के सारे नानात्व से नाता जोड़ कोई क्या पाएगा—कितना, जब उनके अन्दर के उस दिव्य एकत्व की पहचान तक नहीं ?"

"तो उसे जानने-पहचानने के लिए कैसे क्या साधन..."

"बस, तुम्हारा सारा ध्यान अन्तर्मुख हो पाता--समझे ? यह रुझान तो सम्पूर्ण स्वात्मार्पण की देन है।"

पादरी महोदय चुप हो रहे। फिर जाने क्या सोच भरे गले से बोले--
"आपकी यह यौगिक साधना तो छाए जा रही है सब पर। जिस ऊँचाई तक उठ पाई है उस स्तर तक तो हमारे यहाँ कभी किसी की पहुँच नहीं। आपकी अपनी चीज है यह--जी हाँ, बड़ी चीज। क्या कहने! मगर इसे दुनिया भी जान पाती तो आपका जाता ही क्या? अपने दामन-तले समेटे रखना, इक्के-दुक्के अपने चेले को···"

"मगर सभी तो इसे जानने से रहे--वैसा पात्र चाहिये न—अधिकारी—"

"अच्छा होता, आप यहीं अपनी पसन्द की जगह योग-साधना का एक कालिज खोल पाते। दर्शन के Post-graduate Classes का यह एक अन्यतम अंग होता—Theoratical नहीं, Practical और research की तमाम सुविधाएँ भी होतीं। विज्ञान की यह सूक्ष्म दिशा होती—ऊँची से ऊँची चोटी। जड़ प्रकृति की छानबीन के साथ-साथ यह अपने अन्दर की वृत्तियों की—साँस की गति-विधि की—छानबीन भी···"

"मगर यह कैसे, कहाँ होगी—सुनूँ भी।"

"यहीं···सामने की इसी पहाड़ी ढलान पर—वैसी एक आलीशान इमारत तैयार कर लेनी है— अध्यापक और छात्र दोनों की गुंजाइश। सच मानिये, यूरोप से रुपये बरस कर रहेंगे—जिम्मेवार हम···"

"अजी, प्रकृति की पाठशाला ही में पढ़ो···ऐसी आलीशान इमारत कहाँ मिलने की है? यह खुली हवा, खुली रोशनी, यह आसमान का साया, यह हिमालय का आश्रय, यह गंगा का पुण्य-स्रोत, यह हरी-भरी घाटी—शान्ति का संतरी···"

"फिर भी एक आलीशान भवन अनिवार्य है—अपनी रहन-सहन,

खान-पान की सारी सुविधाएँ हों—एक पुस्तकालय भी—दर्शन के विविध ग्रन्थ…"

"भला ग्रन्थ से कहीं किसी की ग्रन्थि खुल पाई है ? किताबी बातों से तो वह प्रत्यक्ष अनुभव होने से रहा। सारे दर्शन का निचोड़ तो अपने चैतन्य के अन्दर है। उसी गहराई में वह छानबीन—वह research है, समझे ? पुस्तकों की पहुँच तो स्मृतिपट…मस्तिष्क तक है—मारे-पीटे बुद्धि तक। मन के अन्तस्तल में उनका गुज़र कहाँ ? हमारे व्यक्तित्व पर उनका कोई वैसा असर नहीं, प्राणों पर कोई छाप नहीं। हम से वह अलग हैं जैसे—अभिन्न नहीं, हमारा अंश नहीं।"

"जी, यह तो पते की बात है।"

"और क्या ? कोई जो आत्मा का पता ले पाता—क्या मेधा, क्या प्रतिभा, क्या विद्या और क्या कला ! हाँ, वैसी विरक्ति आए तो तल्लीनता आए। वैसी अनुरक्ति भी आए…तो…"

"क्या कहा—अनुरक्ति ?"—चौंक उठे पादरी साहब।

"और क्या ? रति और विरति तो एक ही तने की दो टहनी ठहरीं। ध्यान रखो, इस देह के साथ तो एक ओर ममता-मोह है, दूसरी ओर संदेह या विद्रोह। बग़ैर विदेह हुए तो कोई निस्सन्देह होने से रहा—उस असीम का पता पाना तो दूर। अब उस अनिर्वचनीय का संधान कोई वाक्य या वचन क्या देगा ? जो भाण्डार हमारे अन्दर है उसका एक शतांश भी किसी बड़े-से-बड़े पुस्तकालय में नहीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तो शायद अक्षर भी नहीं पहचान पाते रहे। युनिवर्सिटी के तमगे तो रोज़गार के इश्तहार के लटके ठहरे—विद्वत्ता एक पेशा।"

४

पादरी साहब चुप हो रहे—सर झुकाये सोचते रहे कुछ। फिर ज़रा ऊँचे स्वर में बोले "ऐसे आप जो कहिये, पर इस साधना की अपनी जानकारी होती तो इसकी रूपरेखा, इसकी दिशा कुछ और होती। अध्यात्म और मनोविज्ञान की यह एक ऐसी निराली विभूति होती कि आप भी क्या याद करें! जन-सेवा की संभावना तो आकर रहती एक ढंग से। देखिए न, प्रकृति की छान-बीन कर हम दुनिया को जैसी-जैसी सुविधाएँ दिए जा रहे हैं निरन्तर—वह दिन दूर नहीं कि देश-काल की दूरियाँ भी मिटते-मिटते......"

"मगर आदमी-आदमी के बीच की दूरियाँ तो मिटने से रहीं इन उपचारों से। हो सकता है, बढ़ती ही रहें इस दौर में। अन्दर ही नहीं सँवरा, आत्मभाव ही नहीं पनपा तो फिर इस बाहरी उभार और निखार में रखा ही क्या है? इससे तो यह जीवन का बेड़ा मझधार ही की तरफ़......"

"सो कैसे?"—चौंक उठे वह।

"नहीं समझे? तुम्हारे भौतिक जीवन की सुविधाएँ तो एक मानी में बाधाएँ ही ठहरीं—जी हाँ, हमारे आध्यात्मिक जीवन की शृंखलाएँ

ही। आज सायन्स की प्रगति जनता को जैसी-जैसी सुविधाएँ दिए जा रही है, वह क्या हैं आखिर ? उठते-बैठते भोग-सुख की सुविधाएँ अधिकतर। कहाँ हम आए थे इन्द्रियों के मोह-जाल से अपना पल्ला छुड़ा आत्मलीन होकर उस नित्य अव्यक्त का पता पाने, कहाँ ऐश-आराम के ऐसे-ऐसे आविष्कारों के चलते रह जाते हैं दुनिया के गिरफ़्तार होकर। हाँ, इस प्रगति के साथ-साथ सद्गति की सुविधाएँ भी एक सलीक़े से आ पातीं···"

"अच्छी बात है। आइए आप, इस सद्गति की दिशा भी दुनिया की आँखों में उँगलियाँ डाल······"

"नहीं-नहीं, ऐसे तो इस प्रश्न का समाधान नहीं। अभी हमने इस पहलू पर वैसा सोचा भी नहीं है। यह तो साफ़ है कि अध्यात्म का उच्चतम अनुशीलन तो तुम्हारे अध्ययन और अध्यापन की चीज़ नहीं। वह चिन्तन और मनन तो वैराग्य और अभ्यास की देन है। किसी प्रचार की चीज़ भी नहीं वह। एकाध ही—जिनके अन्दर पूर्वजन्म के संचित संस्कारों से संसार से विरक्ति हो पाई है—नस-नस में त्याग की उद्दीपना भरी है···"

"माफ़ कीजिए, हम तो समझते हैं कि दुनिया में रहकर दुनिया को लगे हाथों साथ लिये भी······"

"जी नहीं! वह चलने की नहीं। त्याग और वैराग्य तो पहली शर्त्त ठहरे।"

"तो फिर यह अपनी-अपनी नज़र है, अपनी-अपनी डगर। देखिए न, हमारे मिशन के सामने अपनी धार्मिक रीति-नीति ही नहीं, आज की ज़िन्दगी भी है, आनेवाली पीढ़ी भी।"

"जी! अपनी राजनीति भी कहिये!······अजब नहीं, अपने राज की शाहंशाही भी······"—मुस्कुरा उठे योगीश्वर।

पादरी साहब जैसे एक आवेश में आ गए। उबल पड़े—"और आपकी नज़र पर एक अपनी ही मुक्ति की बन्दगी लिये ऐसे विजन एकान्त में..."

× × × ×

"मगर यह क्यों भूल रहे हो कि इस ज़िन्दगी की—मनुष्य-योनि पाने की सबसे बड़ी ज़िम्मेवारी तो यही मुक्ति—यही सत्य की उपलब्धि ठहरी। जभी तो यह शरीर तुम्हारा साधन-धाम है, बस। और इस दिशा में वह रिसर्च, वह अनन्य साधन की सुविधा तो परिवार या संसार की हलचल तो दूर—अपने घुमक्कड़ चंचल मन के रहते भी कभी संभव नहीं। उस अन्तर्मुखी खोज-बीन के लिए जैसी शान्ति, जैसी मनःस्थिति चाहिए, वह तो अटूट एकान्त से ही—त्याग और वैराग्य से ही आ सकती है—चारा नहीं।"

"मगर यह अपनी मुक्ति तो वही अपनी खुदी की ही बुलन्दी ठहरी......यह Personal Salvation (अपना मोक्ष) क्या है आख़िर—अपने Ego का Sublimation—है न ? Well, you may attain Nirvan, go to the seventh heaven, what good it brings to the common man ?"

पादरी साहब ज़रा आ गए ताव में। छूट पड़ी अंग्रेजी की लड़ियाँ। योगिराज मुस्कुराते रहे।

"क्या सच ? तो तुम्हारी दृष्टि में यह मुक्ति भी स्वार्थ की ही चरम परिणति ठहरी ?"

"जी! हमें तो लगता है, यह स्वार्थ का उच्च स्तर ही पुरुषार्थ है आपका—परमार्थ भी। यह अपना मोक्ष त अहमत्व का ही वह दिव्य महत्त्व....."

"यह कैसी बातें करते हो तुम ? अहंकार का लोप ही न हुआ, देहाभिमान से वह ऊपर ही न उठा, यह 'मैं, तू और वह' का परदा ही न सरका तो फिर उसका बेड़ा तो पार होने से रहा। हमें तो अपने को सारे चराचर में देखना ठहरा और सबको अपने में—'आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि।' सुना है न—

सिया राम मय सबजग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥"

"तो लीजिए, एक शूद्र उठा ब्राह्मण की पाँति में तपस्या करने तो जाने क्या ऐसा अनर्थ हो गया कि उसका गला घोंट दिया आपके जाने-माने राम ने—वही राम, जिसे कहाँ से कहाँ उठा दिया है आपके कवियों के कलाम ने। और तो और, यह क्या तमाशा है कि एक ओर तो आप आदमी-आदमी के बीच वह दूरी लिये चल रहे हैं कि कहाँ ब्राह्मण और कहाँ शूद्र, और दूसरी समदृष्टि की वह जबानी भफ्फारेबाजी भी है कि सब एक—अभिन्न।...कोई भेद नहीं। वही—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।"

"भई, हमारे यहाँ धर्मशास्त्र और है अध्यात्म और। यह कहाँ, वह कहाँ! और, यह शूद्र का गला घोंटने का किस्सा तो मनगढ़ंत ठहरा—कोई तथ्य नहीं। कितने ऐसे-वैसे अपने साधन के बल पर जिस ऊँचाई तक उठ गए—तुम्हें पता क्या ? और, राम जब एक भिल्लनी के जूठे, चूसे-चाटे बेर खाने में नहीं हिचके तो फिर...जाने दो..."

"जो हो, हम तो पाते हैं, जब आप जन-जीवन की सरबीतियों से मीलों दूर ठहरे तो फिर आपकी यह समदृष्टि की बानगी कोई मानी नहीं रखती। इस जीवन के संघर्ष से मुँह मोड़ हिमालय की तनहाई में बैठ अपनी ही मुक्ति के मसले हल किये जाना कोरी कायरता कहें तो मुश्किल,

अकर्मण्यता कहें तो मुश्किल ।···कम-से-कम अपने पड़ोसी, अपनी भाई-बिरादरी के सुख-दुख से भी तो···।"

'भई, वैसे तो यहाँ कोई अपना नहीं यह शरीर तक नहीं । एक दिन उसे भी छोड़कर तुम चल दोगे । किसी को 'मेरा' मानना ही अपना सब कुछ खोना ठहरा । आखिर मानना और है, जानना और । यह दुनिया तो दो दिन का मेला—मरीचिका है । कोरी कल्पना—कोई सार नहीं । तुम दुनिया में आए हो, दुनिया के होकर रहने नहीं—उसमें रमने नहीं, उसी का नाज उठाने नहीं । बस, जान लो, पहचान लो उसके नखरे-तिल्ले । उसकी क्या चीज तुम्हारे काम आएगी, क्या चीज तुम्हारा साथ देगी ? और लो, अपना दामन बचाए दूर से ही हाथ जोड़ लो—उसके द्वन्द्व की दौरान से·····"

"माफ कीजिए, यह अपना उसूल नहीं । दुनिया के ही न रहे तो फिर रहे-रहे, न रहे-न रहे । हमारे मिशन के साथ तो प्रेय और श्रेय का समन्वय है—जी हाँ, समन्वय । आखिर अन्धकार ही नहीं तो फिर प्रकाश क्या ? काँटों का अंकुश ही नहीं तो फूलों का विकास क्यां और आँसू की बौछार ही नहीं तो फिर हास का उल्लास क्या ? दोनों ही चाहिये—इस गाड़ी के दो पहिये । यही जीवन है—यही जीवट भी । और आज हर धर्म की माँग भी ।"

"जी, क्या बात है ! फिर तो तुमने तख्ता ही उलट दिया ! माया और ब्रह्म अभिन्न सहचर हो रहे ! ऐसा समझौता ? आखिर इस सुलहनामे की शर्त ?"—योगीश्वर महाराज के होंठों पर मुस्कान की लहर-सी उठ आई ।

"जी । कर्मण्यता ही हमारी धार्मिकता की पहली शर्त ठहरी ।"

"मगर जान रखो, निष्काम प्रेरणा ही उस कर्मण्यता की आधार-

शिला चाहिए। वह नहीं तो कुछ नहीं—सब बेकार। और नहीं तो जो कुछ करो उसे जी खोल अपने ईसा के चरणों में ही लगे हाथों अर्पण कर दो। हाँ, आँसुओं से प्रभु का दामन सींचते उस अर्पण-आराधना की आड़ में अपनी कोई तमन्ना भी झाँक जाती है तो वह वन्दना भी एक छलना हो गई—अपनी ही वन्दना जैसे।"

पादरी साहब दो पल जाने क्या सोचते रहे। रुकते हुए बोले—"मैं तो समझता हूँ, वह धर्म भी क्या, जिसके कलेवर में श्रम नहीं। क्या ही अच्छा होता कि आपके तीर्थों के बेकार साधु-संतों का यह काफिला राम-नाम की तिजारत के साथ-साथ किसी सार्वजनिक काम को भी सर-आँखों से उठा पाता। यों बैठे-विठाये खुदाफरोशी की दूकानें खोल······देवताओं की दलाली का पेशा······"

"क्या कहा? दलाली का पेशा?"

"जी! और क्या? उन नामों को भँजाए जा रहे हैं रात-दिन। कहाँ लोक-सेवा ही ईश्वर की सच्ची पूजा ठहरी!···हम तो समझते हैं कि विरक्ति जिससे जैसी बने, अपने परिवार से चाहिए—अपने तंग स्वार्थ से; समाज से नहीं, राष्ट्र से नहीं। यह क्या त्याग और तपस्या है कि दुनिया मझधार में डूब रही है—डूबे, हमें क्या? हमें तो बस, अपनी ही नाव की उबार ठहरी—एक दिशा, एक प्रेरणा! तो बस, लिये रहिए अपनी यह मुक्ति। क्या कहने इस अंदाज के! और यही निवृत्ति तो आपके सारे अध्यात्म की धुरी ठहरी। देखिए न···"

पादरी साहब एकाएक रुक पड़े। शायद उन्हें लगा कि योगीश्वर तो शान्त-स्थिर हैं, वह क्यों ऐसी टनक आवाज़ में बढ़-चढ़ कर बोले जा रहे हैं।

"हाँ-हाँ कहे जाओ, रुके क्यों?"

"जी, ज़रूर। यह तो ज़ाहिर है कि विवेकानन्द अमेरिका और यूरप में फूले-फले कि आपका दर्शन भारत का सर ऊँचा कर सका। वह समुन्दर पार जाकर वहाँ के हवा-पानी में पनपे न होते तो शायद रामकृष्ण का नाम भी आज दुनिया नहीं जानती और न रामकृष्ण मिशन ही किश्चियन मिशन की देखादेखी दीन-दुखियों और रोगियों की सेवा अपनाता। वही एक ऐसी धार्मिक संस्था है आप यहाँ, जो हमारी तरह लोक-सेवा भी साथ-साथ..."

"भला उससे कब किसको इनकार है? वही निष्काम कर्मयोग तो गीता का मूलमंत्र ठहरा। हमने तो बस यही कहा न, दुनिया में रहकर दुनिया के हवा-पानी से दामन बचाए बेदाग़ निकल जाना कोई बायें हाथ का खेल नहीं—

'काजर की कोठरी में कैसहू सयानो जाय
एक लीक काजर की लागै पै लागै।'

भई, यह दुनिया है तो चाहना का अटूट ताँता भी है और चाहना है तो दुनिया है—दुनिया का भूल-भूलैया भी—लीजिए, धूप-छाँह की परम्परा भी। तो बस, जान रखो संसार का जाल है तो ईश्वर नहीं और ईश्वर है तो संसार नहीं।"

"तो फिर संसार से कोई कैसे खिंचे, कहिये?"

"पहले अपने 'मन' को मिटाए—अपने 'मैं' को मिटाए। यही मुख्य है। इसी के अन्दर यह मोह-ममता का सारा कूड़ा-कर्कट है—अपना शरीर, अपना परिवार, अपना धन-धाम, अपना धर्म, अपना कल्चर, अपनी ज़बान, अपना देश, अपना 'रेस', अपना जाने क्या-क्या! और जानते रहो, भोगों में सुख-बुद्धि ही अपनी आसक्ति की बेड़ी ठहरी और मन की निष्काम स्थिति

ही अपनी मुक्ति। बस, दुनिया के तमाम अपनापन से···सारे भोग-सुख से मुँह मोड़, जीवन के हर पहलू को अध्यात्म का पल्ला थाम उस 'एक' के चरनों में उड़ेल कर रख दो। बगैर अपने को खोए तो हम उसे पाने से रहे—समझे? प्रारब्धवश चाहे कुछ हो, कोई बात नहीं। उससे आत्मा का कुछ आता-जाता नहीं। हाँ, दुख का दौर है तो एक ढंग से अच्छा ही है—बुरा नहीं। पूर्व जन्म के अशुभ कर्म की बेड़ियाँ कट रही हैं—खुल रही हैं।"

"तो आप दुनिया को किसी हालत में साथ लिये चलने को तैयार नहीं। बस, आपके साथ यह है या वह। अपना परिवार, अपना रोजगार, अपना धन-धाम; नहीं तो एकदम हिमालय की चोटियों का एकान्त। जमाने के उतार-चढ़ाव से, अपने भौतिक कारोबार से कोई सरोकार नहीं, कोई मध्यम मार्ग नहीं—No Golden mean!"

"भई, ऐसे भी हैं हमारे यहाँ हजारों-हजार जिनके साथ परिवार-संसार भी है, हरि-नाम का आधार भी। संस्थाएँ भी हैं ऐसी। और तो और, यह पंडे-पुरोहित··"

"बस, बस—छोड़िए भी उनको। देख आए उनके नखरे हम हरिद्वार की पौर पर। शर्म आती है कि ऐसे-ऐसे अनाड़ी भी आप-यहाँ साधु-संतों में शुमार हैं। माफ़ कीजिए, यह अनपढ़ जनता का अंधविश्वास है कि उनकी बन आई है आज भी। नदी में सुबह-शाम की डुबकी, शरीर के एक-एक अंग पर वह-वह रंगसाजी···क्या बताऊँ, उनकी तो हर बात दुनिया से निराली ही ठहरी···यह क्या तमाशा है आखिर···"

"भई, ऐसी बातें कहाँ नहीं—वह सत्य, वह धर्म का आधार तो दुनिया से कभी का उठ गया। बस, रह रही हैं रूढ़ियाँ—रीति-रिवाज की लड़ियाँ··· तुम्हारे यहाँ क्या नहीं हैं? जी, खूब हैं—एक अपने ढंग से। मगर जाने

दो, तुम ठहरे हमारे अतिथि आज, हमारे सर-आँखों पर…"योगिराज ने हाथ जोड़ लिये।

पादरी साहब ने आँखें नीची कर लीं। जबान भी झुक गई जैसे। योगीश्वर की वह नरमी छू गई उनके दिल को।

"जी, यह चर्चा तो बेकार की माथापच्ची है। आखिर अपनी-अपनी राह चाहे जो हो—मंजिल तो एक ही ठहरी।…हम तो आज आए हैं आपसे जो कुछ पाने उसे आप खुद ही जान रहे हैं आपकी सिद्धियाँ… हो सकता है, यौगिक साधना की ऊँची-ऊची…"

"अच्छा! वह भी? है वह तुम्हारे वश की?"

"जी, क्यों नहीं? आप चाहें और यह मुश्किल हल न हो? और, हम तो इस हाथ लेकर उस हाथ पिरो देंगे जन-जीवन के उन्नयन में…"

"वाह! क्या कमाल है तुम्हारा…"

"जी, अच्छे-से-अच्छे सदुपयोग होंगे…और दुनिया भी जानते-जानते सिक्का मान लेगी। अपने दामन-तले सँजोये रखने के तो हम कायल नहीं। हम पूछते हैं, हमारे 'टॉड' न आए होते यहाँ तो राजस्थान के अलौकिक जौहर की वह वीर-गाथा काल के कवल से निकल पाती? दुनिया की आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा पाती कि क्या निराली विभूति थी वह…?"

"अच्छी बात है—जैसी खुशी। पर यहाँ के हवा-पानी में टिक पाओगे तुम? सभ्य जीवन की सुविधाएँ तो मिलने से रहीं…"

"जी, कोई बात नहीं। यहीं कहीं आश्रम के आसपास एकाध खेमे रहेंगे—अपनी जरूरतें भी जुगा लेंगे—देहरादून तो वैसा दूर नहीं…दो-ढाई महीने की छुट्टी भी ले रखी है। हो सकता है, कुछ दिन और…"

"ऐसा आसान समझ रखा है तुमने ? जिसे काँटों की चुभन की झिझक है वह उस कल्प-पारिजात का पता पा चुका !"

"यह क्या कह रहे हैं आप ?"

"यही कि अभी तुम्हारे अन्दर वह तड़प नहीं—वह प्राणपण की तलाश नहीं—एक कुतूहल है अधिकतर। हाँ, वैसी जिज्ञासा तो आते-आते आती है—आकर रहेगी, घबड़ाओ नहीं। अभी साल भर यम-नियम, प्राणायाम और आसन का अभ्यास रखो। फिर मिलना तो मर्म की गहराइयों की…"

"फिर कब कहाँ मिलेंगे आप ?"

"अपने से ही पूछो। तुम्हारे अन्दर वह पुकार होगी तो फिर पूछना ही क्या ? सर के बल दौड़ आएँगे उस बुलावे पर……"

योगीश्वर उठ खड़े हुए।

"मगर वह सिद्धियाँ, महाराज ?…वही सही"—उबल पड़े पादरी साहब।

"तुम भी अजीब चीज हो। वही बाजीगरी की ही पड़ी है तुम्हें ?… लेकिन हाँ, यह तुम्हें हुआ क्या है ? वही नाम—वही जयमाल की तलाश ?… अच्छा, लो, देखो यह एक नई सिद्धि की बानगी…"

तभी योगीश्वर के इशारे पर उस आश्रम के एक अधेड़ योगी सामने उठ आए। आँखें मूँद पद्मासन पर बैठ गए। दस मिनट बाद पास के पेड़ के तने पर पीठ रोप निश्चेष्ट हो गए जैसे—पुतलियों तक में कोई गति न रही—बेहोश हो गए क्या ?

लो ! साँस उड़ गई—नाड़ी बन्द—No Pulse!

पादरी साहब चौंक उठे। बढ़कर उनकी नब्ज़ पर उँगली भी रख दी—सच ! कोई गति नहीं !

लीजिए, साहब की तो बाहर की साँस बाहर और अन्दर की अन्दर रह गई। आँखें फाड़ देखते रहे। नाड़ी भी टटोलते चले।

क्या कमाल है! नाड़ी में स्पन्दन नहीं—छाती की धड़कन नहीं!

कोई आध घंटे बाद। योगीश्वर ने उस साधक के सर पर हाथ रखा। लीजिए, आन-की-आन में लौट आई साँस—उभर आई जिन्दगी रोम-रोम पर।

योगिराज माफ़ी माँगते उठ खड़े हुए। उनकी अपनी साधना का समय जा रहा है। इतना समय उन्होंने हमको दिया—यही बहुत है।

तभी दो दोने में कुछ फल-मूल आए—दो साफ़-सुथरे चुक्कड़ में गंगाजल भी!

पादरी साहब तो यह सत्कार पाकर खिल उठे। एक युवक योगी से आसन और प्राणायाम के लटके पूछते रहे—सीखते रहे जी उड़ेल।

* * *

हाँ, उनकी वह लौ लगी की लगी रही बराबर—हम क्या कहें, कैसे कहें आज? तीन महीने भी न गए होंगे कि उनकी तब्दीली हो गई दूर—बहुत दूर—मद्रास के आसपास। बस, छूट गया साथ—हम कहाँ, वह कहाँ!

श्रम का मूल्य

क्या तमाशा है, आदमी सोचता है कुछ, और होकर रहता है कुछ। अपनी जिन्दगी में यह तक़दीर और तदबीर की आँखमिचौनी भी अजीब चीज है। अक्सर देखा है, जो अपनी तक़दीर पर ही फूला फिरता है, सीना तान पास-पड़ोस पर छाये चलता है, वह जमाने के हाथों एक दिन ऐसा झिंझोरा जाता है कि वही जानता है जो वह जानता है।

हाँ, यह भी साफ़ है कि हम लाख सर मारें अगर तक़दीर साथ नहीं तो बनी-बनाई बात भी क्या हो जाती है पल में।

ज़ाहिर है, वह दिन गये जब तक़दीर की ही कमान चढ़ी हुई थी हमारे यहाँ। तदबीर की वैसी पूछ ही नहीं थी जैसे। आज वह 'अपना-अपना भाग, अपना-अपना भोग' के दिन लद चले। आज तो हम पसीने की सिंचाई के हाथों अपनी तक़दीर की सूखती फसल तक सँवार लेते हैं—बस, एक फन चाहिये, एक धुन भी।

वह जो किसी ने कहा है न—

> 'क़िस्मत को देखिये कि कहाँ टूटी है कमन्द,
> दो-चार हाथ जब कि लबे-बाम रह गया!'

तो लीजिये, दो-चार ही फॉर्लांग डाक-बँगले की पौर पर पहुँचने को रह गया होगा कि मोटर का चक्का सड़क की पटरी से सरक कर आसपास की नई गीली मिट्टी में ऐसा धस पँस गया कि इंजिन सर मारती रह गई। और सर पर बरसाती बूँदों की वह मूसलधार, पुरवैया का वह जोर-शोर कि उठ-उठ कर बैठ गया जी।

यह नहीं कि बनारस से चलते वक्त हमने अपनी ओर से कुछ उठा रखा। कब क्या हो, कहाँ इंजिन की नाड़ी की गति जवाब दे बैठे, मोटर का चक्का बन्दूक की गोली छूटने की आवाज़ देकर धड़ल्ले-से फट पड़े, हर ऐसी दुर्घटना की आशंका पर अपनी उँगली थी। वैसी बलानागहानी की दवा भी ले रखी थी अपनी झोली में। मगर यों फट पड़ेगा आसमान घंटे के अन्दर, डूब जायँगी सड़कें तक पानी में, वह अनहोनी तो शायद हमारे फरिश्तों को भी खबर न होगी। वही कहा, तक़दीर के आगे तदबीर की कब चली है वैसी? वह कहीं पंजे झाड़ पीछे पड़ गई तो फिर सारा किया-कराया किरकिरा हो गया पल में।

रात का सन्नाटा है। घुप्प अँधेरा। कहीं कोई चिड़िया का पूत नहीं। और मोटर में ठहरे हम कुल तीन। अब कंधा लगाये कौन, कैसे? ड्राइवर, चपरासी भी आसमान की रंगत देख जोर आजमाने से सहम उठे। वैसी गीली मिट्टी में पैर रोप कंधे भिड़ाना बायें हाथ का खेल नहीं, घुटनों तक धस जाने का डर है। एक छाता साथ है जरूर पर उस पुरवैये के झोंके से वह लोहा ले पाये तब न।

अब कैसे क्या हो! हमारे हाथ के तोते उड़ गये।

ड्राइवर ने मुड़कर कहा--"हुजूर, मोटर ही में बैठे रहें। जा रहे हैं मजदूरों की तलाश में। एकाध के किये तो कुछ होने को नहीं।"

"कहाँ जाओगे तुम ? गाँव तो नजदीक नहीं। और यहाँ तुम्हें जानता ही कौन है ?"

"डाक-बँगला तो पास ही ठहरा। वहीं के खानसामे को एकाध रुपये देकर…"

"नहीं-नहीं, ठहरो, हम भी चल रहे हैं। यहीं कहीं पास ही ठाकुर साहब रहते हैं, एक अच्छे काश्तकार, ज़मींदार भी हैं, उनसे हर तरह की मदद मिलकर रहेगी।"

खैरियत थी, वाटरप्रूफ साथ था। अपना बचाव हो गया। छाता दे दिया ड्राइवर को। चपरासी वहीं मोटर में बैठा रहा, चीज़ों की निगरानी के लिये।

एक फॉर्लांग भी न गए होंगे कि आँखों पर, कानों पर भी कुछ हलचल-सी उभर आई- -हैं! यह तो मोटर की इंजिन की गूँज है—हाँ-हाँ, वही जानी-पहिचानी आवाज़। वही मिट्टी-पानी में दबोचे हुए चक्कों की घरीहट भी। तो क्या यहाँ भी वही क़िस्सा खड़ा है— वही दुर्घटना ?

अचरज क्या ? सड़क उभरी हुई है। कहीं-कहीं नई मिट्टी भी बिछ चुकी है। बरसाती मरम्मत पेश है। और पटरी के आसपास आसमानी बौछार से नई मिट्टी भीगकर ऐसी गीली हो गई है कि जो भी पड़ा, वह उसी सड़ाँध का होकर रह गया। इस घुप्प अँधेरे में बाल-बाल बचकर निकल जाना किसी तक़दीर के सिकन्दर को ही मयस्सर है—हर को नहीं।

लीजिये, पहुँच गये हम आमने-सामने। देखा, ड्राइवर स्टियरिंग ह्वील पर है और दो अंग्रेज मिट्टी-पानी में लिपे-पुते, भींगते हुए, घुटनों तक उसी सड़ाँध में धसे हुए भी, कंधे भिड़ाए निकाले लिए जा रहे हैं अपनी कार को। क्या कमाल! निकाल ही तो लिए दो पल में। हमने ड्राइवर से मुड़-

कर कहा--"देखा ? एक यह गोरे साहब हैं, एक हम ! लो, लौट चलो, अब भी कंधे भिड़ा..."

"भला सरकार. ऐसे कीचड़ पानी में समा पाएँगे आप ? एक चपरासी अकेला क्या कर पाएगा ? जैसा मरियल है वह !"

तभी हमारे चेहरे पर टॉर्च की रोशनी धड़ल्ले से पड़ती है। साथ-साथ एक टनक आवाज़ भी—"हलो ! तुम यहाँ ?"

अरे ! यह तो विलियम साहब हैं ! वही, जो कुछ दिन हुए हमारे जिलाधीश थे। आजकल सेक्रेटेरियट में हैं किसी अच्छे ओहदे पर।

हम रुकते हुए बोले--"जी, हमारी भी यही परीशानी है। वह देखिये वह...अपनी कार भी बुरी तरह..."

"कोई बात नहीं। लो, चलो, उसे भी उठाये लिये देते हैं..."

हम तो शर्म से झुक गये। "नहीं-नहीं, आप क्यों नाहक...? यह क्या सामने ही ठाकुर साहब की ड्योढ़ी है। मोटर निकल कर रहेगी दस मिनट में। आपने भी उन्हें खबर कर दी होती तो यों माटी-पानी में..."

"भई, हमें क्या पता ? और हम तो कहीं ठहरे से रहे।"

"तो क्या ऐसे ही लिपे-पुते..."

"नहीं तो, सामने के डाक-बँगले में नहा-धो, कपड़े बदलकर मोटर उड़ाये चल देंगे।"

"इसी आँधी-पानी में ?"

"तो हुआ क्या ? ऐसे डरें तो फिर किसी प्रोग्राम की पाबन्दी तो होने से रही।"

"मगर सड़क की जैसी हालत हो रही है, जो कुछ भी न हो..."

वह हँस उठे। "अजी, जो बला आए, आए। बस, हिम्मत और हुनर चाहिये, बेड़ा पार है।"

और लीजिए, गुडनाइट कहते हुए सर्राटे से चल दिये वह।

तभी हमारी निगाह ठाकुर साहब पर गई। देखा, वह छाते के अन्दर सिमटे हुए बायीं ओर एक पेड़ की आड़ में खड़े हैं। खड़े-खड़े सब कुछ देख-सुन रहे हैं जैसे।

"ऐ लो! आप यहीं खड़े हैं और इन साहबों के छक्के छुट गये! जानते नहीं, यह कौन हैं?"

"जी, अभी तो सामने आने से रहे हम! कहीं कंधे भिड़ाने पड़े तो...?"

"क्यों, आपके यहाँ आदमी की क्या कमी है? बनिहार-मजदूर ही जाने कितने..."

"भई, वह होते तो आज यों मुँह चुराना पड़ता?"

"क्यों, कहाँ मर रहे हैं वे?"

"कुछ न पूछिये, शैतान सवार है उनके सर पर। उनका दिमाग़ ही फिर गया है जैसे।

"सो क्या?"

"सुना नहीं, नया गुल खिल रहा है यहाँ? भगवान जाने, इस घर को किसकी नजर लग गई—यह नौकरों की हड़ताल—कभी देखी न सुनी! हम तो यहाँ थे नहीं, जाने कौन एक शहरी लीडर यहाँ आ गया। सारे ऐसे-वैसों के कान भर दिए—अपनी माँग दूनी करो। अड़े रहो ताल ठोंक! लीजिए, सब तो सब, परसों से रोपनी तक बन्द है। कहाँ मालिक की मर्जी ही बड़ी चीज थी यहाँ, कहाँ आज हम क्या और हमारी नाराजी क्या!"

"फिर भी दो-चार तो आपके यहाँ जाने कितने पुश्त से..."

"हाँ, वह बिचारे लुक-छिपकर कभी आ गये तो आ गये। डरते हैं भाई-बन्धु के सामने आने से...।"

"मगर पुलिस को तो खबर कर दी होती आपने?"

"अजी, वहाँ तो उनकी पीठ पर हाथ रखे हुए हैं। नया आया है एक थानेदार।"

"यह तो बड़ी वैसी-सी बात है।"

"चलिये, देखिये, क्या हाल है अपने यहाँ। चूल्हा तक नहीं जला। बस, जैसे-तैसे पड़ोस के बाजार से कुछ रूखा-सूखा..."

"तो आप किसी होशियार कारिन्दे को भेजकर शहर से ही बुलवा लेते चन्द पैसे..."

"नहीं-नहीं, उनकी माँग तो और भी बढ़ी-चढ़ी हो सकती है। उसका असर तो दिहात में...."

तभी उनका बड़ा लड़का जो कॉलेज का बी० ए० का छात्र है, हाथ में लालटेन लिये हुए सामने आ गया। चले आए हम बैठके के अन्दर।

देखा, घर में वह पहले की सफ़ाई नहीं, सारी चीजें यों ही बिखरी पड़ी हैं। वहीं तख्त पर आपके भाई-भतीजे भी बैठे हैं। दो-चार अमले-कारिन्दे भी हैं। वही चर्चा है। यह तो कहिये कि नई बहू के मैके से एक दाई पालकी के साथ आई है कि अन्दर कुँए से पानी खींचना, चौका-वर्तन करना निभ जाता है। और पड़ोस की ठकुराइन आकर हाँड़ी न चढ़ा देतीं तो बूढ़ी मालकिन बिचारी को तो जीने के लाले पड़ गए होते।

उनका साहबजादा सूट-बूट का शौकीन है—शहराती चाल-ढाल। तपाक से सामने आकर बोला—"मैं तो जाने कब से कहता आ रहा हूँ

कि जो कुछ हम उन्हें नक्द या जिंस दिए जा रहे हैं, वह दर तो जाने किस युग की देन ठहरी—आज की महँगी में तो वह चलने से रही—क्या वनिहार-मजदूर और क्या घरेलू नौकर। बस, दर बढ़ा देना ही वक्त का तक़ाज़ा है।"

मगर उस नर्मदिल नवयुवक की सुने कौन? बड़े-बूढ़े तो सुनने से रहे। देखा, उनके मुँह का तोबड़ा चढ़ा है, पारा तेज है। बूढ़े सरकार का तो मारे गुस्से के वह हाल है कि कहीं मिल जाता वह लीडर तो उसे रूई के गाले की तरह धुन डालते। वह कटे-कटे अलग ही सायवान में घूम रहे हैं गुमसुम। सामने नौकरों का अड्डा खाली है।

ठाकुर साहब सरक आए नजदीक। एक अजब खीझ की हँसी-हँसकर बोले—"उनकी वह अकड़ और ऐंठ जो बड़ी वैसी है। किसी लठबाज से पाला पड़ता तो सारी चौकड़ी भूल जाती। हाँ, वह भरी आँख लिये सर के बल आकर हमारी मर्जी पर अपना सब कुछ छोड़ पाते तो हम भी अपनी ओर से···जाने दीजिए वह नज़र ही पलट गई उनकी।"

हमने कहा—"जी।

'नज़र भर के जो देख सकते हैं मुझको।
मैं उनकी नज़र देखना चाहता हूँ।'

है न? मगर इधर आइये, सुनिये। एक रास्ता और है—थोड़ा बीहड़ ही सही···।"

'सो क्या?'—चौंक उठे वह।

"बस, आप ही ज़रा अपना पहलू बदल दें तो उनकी सारी हेकड़ी दो पल में हवा हो जायगी। दो दिन में जब उठेंगे आँत में चूहे कूदने तो फिर वे मख मार····"

"कहिये न, कैसे क्या करना है ?"

"भई, आपका भरा घर ठहरा। अपने ही परिवार में जाने कितने हैं और आसपास जात-भाई भी काफ़ी। बस, दो-चार दिन अपने ही हाथों सारा काम उठा लें—क्या घर क्या बाहर। फिर देखिए, उन मज़दूरों के चेहरे पर वह हवाइयाँ उड़ आएँगी कि · ”

ठाकुरसाहब झल्ला उठे। खिंच आया उनका चेहरा। 'आप भी तो सचमुच अजीब चीज हैं· कैसी बातें करते हैं यह ? हम अपने कंधों पर हल लेंगे ? हमारे भाई-भतीजे उठेंगे बैलों का सानी-पानी करने ? हमारे घर की औरतें झाड़ू देंगी, बर्तन माँजेंगी ? जीते-जी जाएँगी बाहर खेतों में रोपनी-सोहनी करने ? फिर मुँह दिखा पाएँगे हम जवार में किसी के सामने ? अपना पानी ही न रहा तो फिर रहा क्या ?"

अब कोई क्या कहे ? ठाकुर साहब बड़े ठहरे—उनके संस्कारों को ठेस पहुँचती है। जीते-जी वह बत्ती की टेम तक न झाड़ पाएँगे।

आखिर बेगैर दाई-नौकर के कबतक यह हाल बेहाल रहेगा ? अन्दर-बाहर किसी करवट कल नहीं। और तो और, खेती की फसल तो किसी सम्झौते का इन्तजार देखने से रही।

यह जरूर है कि ठाकुर साहब भी ऊब चले हैं। चाह रहे हैं, टटोल रहे हैं कि कोई हल निकल पाता। हाँ, उनके मान पर कोई आँच न आने पाए—यही हर समझौते की पहली शर्त है उनकी। हो सकता है, अब तक यह बेड़ा पार हो चुका होता, मगर वह जो थाने में नया आया है, वह जरा छिपा रुस्तम है—सामने न आकर भी इधर से उधर लगाये फिरता है गुपचुप।

आखिर यही राय ठहरी कि कल सुबह ठाकुर साहब मोटर से हमारे

साथ चले चलें, बड़े अफसर से मिलें, यहाँ की सारी परिस्थिति जता दें। उनकी मदद माँगने में कोई शर्म नहीं। हैं भी वह अपने जाने-माने।

[२]

एतवार का दिन है। आठ का वक्त। आसमान पर बादल छाये हैं। हवा तेज-तुँद।

पहुँच गये हम बड़े साहब के बँगले पर। फाटक ही पर चपरासी मिल गया। लगा सिर हिलाने—"आज तो साहब किसी ऐसे-वैसे से मिलते नहीं। हाँ, कोई ऐसी ही सरकारी बात हुई…"

हमने कहा—"भई, हमारी खबर तो कर दो। जैसी उनकी मर्जी…"

वह चुप खड़ा रहा। आँखें फाड़ जाने क्या टटोलता रहा हमारे चेहरे पर।

तभी ठाकुर साहब मोटर से उतर कर सामने आये—"ऐलो! भूल गए लाला? पहचानते तक नहीं?"

वह चौंक उठा। "अच्छा! ठाकुर साहब?"

उसने जोड़ लिये हाथ। उतर आया आसमान से जमीन पर। पता चला, साहब बँगले की फुलवारी के अन्दर हैं। नये-नये फूल-पौधों की देख-रेख चल रही है।

हमने कहा—"अच्छी बात है, दो-चार मिनट हम यहीं रुके रहते हैं।"

मगर यह क्या! कलाई की घड़ी रह-रह कर देख रहे हैं, उनका पता नहीं।

"हुजूर, हो सकता है देर हो। अक्सर वह अपने ही हाथों कुछ-न-कुछ…अभी दस मिनट पहले कैंची लिए दुरंडे की टट्टी छाँट रहे थे।"

"अपने ही हाथों? ऐसा? आखिर वजह?"

"यह तो आप उनसे पूछिये और पूछिये उनकी लगन से। हैं भी इन

फन के शौकीन आप। माली-मजदूरों से तो ऐसी सफाई-सजाई होने से रही।"

"अजीब शौक है यह!"

"जी, हर रोज ही कुछ वक्त देते हैं—जब जैसी फुरसत रही। आज एतवार है, कहीं दौरे पर जाना भी नहीं, क्या जाने...वह देखिये, वह! केना की क्यारी में खुद कुदाल लिये...."

मुड़कर देखा, वही साहब बहादुर हैं, जी हाँ, पुलिस के वही बड़े अफसर—अपने ही हाथों कुदाल लिये, क्या खूब...दो कुली भी साथ हैं। कैसे क्या करना है, ताकीद भी दिए जा रहे हैं उनको। क्या तमाशा है! ऐसे दिग्गज अफसर और यह निराला अंदाज!

हुआ यह, साहब मुड़कर सामने आ गये। देख लिया हमको, पहचान भी लिया पल में "हलो! गुडमौनिंग! बस, अभी आया।"

और लीजिए, रुमाल से पेशानी का पसीना पोंछते बढ़ आए आप फुलफुल।

"कैसे आये, कहाँ से? आओ, अन्दर आओ, चाय तो पी लो।"

"नहीं-नहीं, आप पीजिए। हम बैठ रहे हैं तब तक आफिस के कमरे में।"

"कहाँ बैठोगे उधर! कमरों की तो सफाई चल रही है आज। लो, इधर बढ़ आओ। बाहर ही बरामदे में चाय आ रही है। देर नहीं।"

"आज कोई खास बात है क्या?"

"है नहीं! लो, इधर आओ, अपनी आँखों देख लो, मेम साहबा का क्या कमाल है बेजोड़! छुट्टी का दिन है आज। वह हिन्दुस्तान की न होकर लन्दन की हो रही हैं सरापा। चाहिये भी..."

मुड़कर अन्दर देखा, देखते रहे, आँखे फाड़ देखते रह गये। लीजिए, आपकी श्रीमती जी कमर से पैर तक, जाने क्या एक सादा घाँघरा नसों की

तरह बाँधे, हाथ में एक अजीब-सा दोमुहाँ झाड़ू लिये—जी हाँ, झाड़ू—वह भी आदमकद—किस मुस्तैदी, किस तेजी से साफ किए जा रही हैं घर का कोना-कोना—क्या फ्लोर, क्या टेबुल, क्या कुर्सी-कोच।

हमने हँसकर कहा—"आखिर यह क्या धुन है निराली! दाई-नौकर की कमी नहीं, माली-मजदूर भी हैं, फिर भी यों अपने हाथों···"

वह दो पल मुस्कुराते रहे। बोले—"मैं पूछता हूँ, यह दो दिन की चाँदनी लुट जाएगी···तो? अगले-साल पेंशन लेकर जब हम घर जाते हैं···तो फिर? वहाँ कहाँ है यह काफिला—यह लामकाफ़? अपने ही हाथों सब-कुछ करते जाइए नहीं तो चलिए, रहिए किसी होटल में—जी हाँ, होटल में सालों साल! वहाँ तो चिराग़ लेकर भी ढूँढ़ो तो कहीं ऐसे नखरे-तिल्ले मिलने को नहीं! तो समझे साहब? हम ऐसे सिरफिरे नहीं कि यहाँ आकर आरामपसन्दी की लत ले बैठें और फिर लेने के देने पड़ें घर जाकर।"

तभी चाय का सारा सामान तश्त में लिये मेम साहब खुद चली आईं सामने सायबान में। साहब ने उठकर तश्त को थाम लिया। रख दिया सामने की मेज़ पर।

"आओ, बैठो, कोई बात नहीं। लो एक कप चाय।"

बैठ रहे हम। चाय की चुस्की चली···। प्लेटों में सैंडविच भी आए। हम ज़रा रुकते हुए बोले—"तो क्या आज आपने 'कुक' को छुट्टी दे रखी है?"

"हाँ, सुबह की चाय और लंच तो आज श्रीमती जी के कर-कमलों से ही···समझे न! बस, उनकी यह लौ लगी रहे कि दो दिन बाद लंदन जाकर अपनी गृहस्थी सम्हाल लें लगे हाथों। वहाँ कहाँ बावर्ची···जी···"

"और बैंक में हजारों हजार की रकम रहते भी यह छोटा-मोटा काम···"

"अजी, यह छोटा-मोटा नहीं, बड़ा है, बड़ा। श्रम ही है अवलम्ब अपना। तुम्हारे यहाँ तो Dignity of labour कोई चीज़ नहीं, कोई महत्त्व नहीं। देखो न, यही जो हमारे बाग का माली है, उसके लड़के को, कई साल हुए, हमने स्कूल में भर्ती करा दिया। वह पढ़ता रहा। ... गया है मैट्रिक क्लास तक। हाँ, अब वह साफ-सुथरा रहता है, बाल ... है, आईना-कंघी भी साथ रखता है, जूता-मोजा भी पहन लेता है अक्... अब उसे किसी छुट्टी के दिन कंधे पर हल या हाथ में कुदाल लेकर ... उड़ेलने को कहो तो लो, वह चट मुँह मोड़ लेगा, उसे यह गवारा नहीं और हम हैं कि कॉलेज में पढ़ते वक्त भी मिहनत-मजदूरी से कुछ कमा लेते रहे फ़ुरसत के वक्त।"

"मगर क्यों, क्या कमी थी ऐसी? आपके पिता तो बड़े ऊँचे सरकारी अफसर थे।"

"जी, वह गवर्नर भी रहे दो सा, उससे क्या?"

हम तो दंग हैं। क्या ... ऐसे बड़े अफसर होते हुए मजदूर भी हैं आप। जी हाँ, मजदूर ... री यह, नाम के साथ 'सी॰ आई॰ ई॰' ही नहीं, 'सर' ...

अब कोई क्या कहे उनसे—कैसे कहे। लेने के देने पड़े...तो?